

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182805

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 801
T 16 P

Accession No. H 138

Author हण्डन, प्रेमनाथरायण

Title प्रेमचन्द : कृतियाँ और कला

This book should be returned on or before the date
last marked below.

प्रेमचन्द : कृतियाँ और कला

[प्रेमचंद जी की कृतियों तथा कला के संबंध में लिखे हुए
प्रमुख विद्वानों के आलोचनात्मक लेखों का संकलन]

संपादक

प्रेमनारायण टंडन, एम. ए., सा. रत्न

रिसर्च एव मोदीस्कालर लखनऊ विश्वविद्यालय

मूल्य : सवा दो रुपए

प्रकाशक, विद्यामंदिर लखनऊ

प्रथम संस्करण—१९४३

द्वितीय संस्करण—१९४६

मूल्य : सवा दो रुपए

मुद्रक—विद्यामंदिर प्रेस, रानीकटरा, लखनऊ

निवेदन

(प्रथम संस्करण से)

प्रस्तुत सकलन के संबंध में मुझे अधिक नहीं कहना है। हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार श्री प्रेमचंद जी की कृतियों के विधिवत् अध्ययन करने और उनका मूल्य ढाँकने में यदि इससे कुछ भी सहायता मिले तो मैं अपनी योजना सफल समझूँगा।

जिन विद्वान लेखकों की आलोचनात्मक कृतियाँ इसमें सगृहीत हैं, उनको मैं धन्यवाद देता हूँ।

(द्वितीय संस्करण के संबंध में)

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण १९४२ में 'प्रयाग पब्लिशिंग हाउस' की ओर से प्रकाशित हुआ था। सात वर्ष बाद इसका दूसरा संस्करण उक्त प्रकाशन-संस्था के स्वामी श्री देवकुमार मिश्र (ग्रंथमाला कार्यालय, पटना वाले) की सहमति से 'विद्यामंदिर' द्वारा प्रकाशित किया गया है। अनुमति के लिए मैं मिश्र जी का कृतज्ञ हूँ।

इस बार चार आवश्यक लेख बढ़ा दिये गये हैं। आशा है, प्रेमचंद-साहित्य-प्रेमियों के लिए अब यह विशेष उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रे. ना. टंडन

विषय-सूची

लेख	लेखक	पृष्ठ
१ सेवासदन	श्री मुंशीगम शर्मा ...	५
२ " ...	श्री कालिदास कपूर ...	१४
३ सेवासदन से प्रेमाश्रम तक ...	श्री सत्येंद्र ...	२१
४ प्रेमाश्रम ...	डा० डारीप्रसाद द्विवेदी	३१
५ "	श्री काजिदास कपूर ...	३६
६ रंगभूमि ...	"	५०
७ रंगभूमि से कायाकल्प तक	श्री सत्येंद्र ..	५७
८ कायाकल्प ...	श्री कालिदास कपूर	६६
९ निर्मला ...	श्री प्रेमनारायण टंडन	७२
१० गबन	" ...	८५
११ गबन की पमु व समस्याएँ	" ...	९०
१२ गोदान	श्री प्रकाशचंद गुप्त	९६
१३ "	श्री शांतिप्रिय द्विवेदी...	१०८
१४ "	श्री विश्वंभर 'मानव'	११२
१५ " ..	श्री गुलाबराय	१२१
१६ प्रेमचंद : एक व्यक्तित्व	श्री शांतिप्रसाद वर्मा...	१२६
१७ आदर्श और यथार्थ ✓	डा० रामविलास शर्मा	१३७
१८ प्रेमचंद की कृति	श्री बाबूराव विष्णु पराडक	१५०
१९ प्रेमचंद की उपन्यास कला ✓ ...	श्री प्रकाशचंद गुप्त	१६१
२० प्रेमचंद की भाषा-शैली ✓ ...	डा० जगन्नाथ शर्मा ...	१७५
२१ प्रेमचंद जी के उपन्यासों को सामयिक समस्याएँ ...	श्री प्रेमनारायण टंडन	१८३
२२ प्रेमचंद और आधुनिक स्त्री समाज	श्री प्रेमनारायण टंडन	१९०
२३ प्रेमचंद की कहानी-कला ...	डा० भगीरथ मिश्र ...	२०१

सेवासदन

१

रीतिकाल में भारतीय विचार-धारा कुछ ऐसी स्थिर हो गयी थी कि उसमें परिवर्तन उत्पन्न काना प्रायः असम्भव था। एक से एक उच्च कोटि के कलाकार अपनी दैवी प्रतिभा का प्रयोग नख-शिख, नायिका-भेद और अलंकार-वर्णन में ही करते थे। यह अवस्था साहित्यिक स्वास्थ्य के लिए हितकर नहीं थी। अनेक वर्षों से जो भावनाएँ चली आ रही थीं, उनका प्रवाह, उनकी गति एक प्रकार से अवरुद्ध हो गयी थी और उसमें रोग के कोटाणु घर करने लगे थे। यद्यपि इस दशा में राममोहनराय, दयानन्द आदि सुधारकों द्वारा कुछ संशोधन हुआ था; फिर भी परिवर्तन की वेगवती धारा की अभी आवश्यकता बनी थी। हमारा एक वर्ग इसी अवस्था से चिपटा हुआ था; दूसरी ओर एक ऐसा वर्ग भी उत्पन्न हो चला था, जो पश्चिम की शैली और पश्चिम के विचारों से प्रवाहित हो रहा था। आवश्यकता थी एक ऐसे कुशल कलाकार की, जो पश्चिम की इस शैली में भारतीय आत्मा को भर सके और साथ ही शतान्दियों से चले आए विचारों को परिवर्तित कर सके। इन दोनों बातों का सामंजस्य हमें अमर कलाकार स्व० प्रेमचंदजी की कृतियों में दिखाया दिया।

प्रेमचंदजी ने भारतीय आदर्शों की प्रतिष्ठा की। 'प्रेमदादखी' में उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है—“मैंने नवीन क्लेवर में भारतीय आत्मा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है। पश्चिमी आदर्शों से एकदम भिन्न भारतवर्ष की यह आत्मा पातिव्रत धर्म, एक स्त्री-व्रत

की भावना, धार्मिकता, परलोक में विश्वास (भाग्यवाद) आदि आदर्शों में प्रकट हुई है । इन भावनाओं पर अतर्वर्षक छाप लगी हुई है । प्रेमचन्दजी के ग्रंथों में किसी न किसी रूप में इन आदर्शों का अभिव्यंजन हुआ है । इसके साथ ही उनके ग्रंथों में गाँधीवाद की भी छाप है ; परन्तु सबसे बढ़कर उनकी रचनाओं में कदाचित् यह भावना है कि पापी-जीवन व्यतीत करनेवाला व्यक्ति भी पवित्र होने की संभावना रखता है । प्रेमचन्दजी के हृदय में समाज के उस अंग के प्रति भी स्थान है, जो किसी कारणवश हेय दृष्टि से देखा जाता है । वेश्याओं का समुदाय और अछूतों का जीवन उनके निकट त्यज्य नहीं है । ये अंग भी समाज के लिए उपयोगी बन सकते हैं । पापी से पापी जीवन के अन्दर भी पवित्रता के अंकुर निहित हैं । ये अंकुर उचित परिस्थिति को पाकर सदाचार व महान् वृत्ति में परिवर्तित हो सकते हैं । दूसरे शब्दों में, प्रेमचन्दजी भारतीय आदर्शों के अनुकूल आत्मा की अनवरत परिशुद्धि में विश्वास रखते हैं ।

‘सेवासदन’ इसी मंगल आदर्श को सम्मुख रखता है । सुमन जो ‘सेवासदन’ की मुख्य पात्री है, और जिसका जीवन सेवासदन को समस्त घटनाओं का केंद्र है, यद्यपि बीच में पथ से विचलित हो जाती है ; पर अन्त में वेश्याओं की छोटी लड़कियों के सुकुमार हृदयों का संस्कार करने के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग कर देती है ।

‘प्रसाद’ ने जहाँ अपने उपन्यासों में दानव में मानव और मानव में दानव छिपा हुआ दिखलाया है, बड़े से बड़े पापी को पवित्र और पवित्र को पापी के रूप में अंकित किया है—एक प्रकार से हमारे आजकल के जीवन का नग्न रूप उपस्थित किया है, वहाँ प्रेमचन्दजी ने अपने उपन्यासों द्वारा हमारे जीवन को परिष्कृत करने का प्रयत्न किया है । संस्कृत का समग्र साहित्य और हिंदी का प्राचीन साहित्य जिस क्षेत्र में पैर न रख सका, उस क्षेत्र में प्रेमचन्द ने अवतीर्ण होकर यह प्रदर्शित किया कि हम इस बाँध को तोड़ सकते हैं—अपने

सामाजिक जीवन को उन्नत बना सकते हैं। रूढ़ियों और अंध-विश्वासों के लिए उन्होंने समाज को दोषी ठहराया। पृष्ठ ३०३ में सदन के शब्दों में उन्होंने समाज की रूढ़िबद्धता इस प्रकार प्रकट की है—
 ‘इस अन्याय को मैं स्वीकार करता हूँ। लेकिन यह अन्याय हमने नहीं किया ; वरन् उस समाज ने किया है, जिसमें हम लोग रहते हैं।’
 यदि समाज परिवर्तित हो जाय, तो उसके साथ यह अन्याय भी दूर हो सकता है और समाज का परिवर्तन कोई दुष्कर कार्य नहीं है।

साथ-साथ प्रेमचन्दजी ने स्त्रियों के सम्मान की भी भावना प्रकट की है। गजानन्द सुमन को निकाल देने पर पाश्चात्ताप करते हैं और अनुभव करते हैं कि समाज में स्त्रियों का आदर अवश्य होना चाहिए। पृष्ठ ३७३ में वे कहते हैं—“आदर या प्रेम-विहीन महिला महलों में भी सुख से नहीं रह सकती। स्त्री फटे-पुराने वस्त्र पहनकर, आधे पेट सूखी रोटी खाकर, मिहनत-मजूरी कर, भोपड़ों में रहकर आनन्द से जीवन व्यतीत कर सकती है—केवल घर में उसका आदर होना चाहिए ; उससे प्रेम होना चाहिए। प्रेमचन्दजी ने राष्ट्र की उठती हुई भावनाओं को भी ‘सेवासदन’ में स्थान दिया है। देश-प्रेम, मातृभाषा-प्रेम, हिंदू-मुसलिम-ऐक्य आदि कई ऐसे भाव हैं, जो ‘सेवासदन’ में स्थान-स्थान पर अपना प्रकाश कर रहे हैं। यदि हमारे व्यावहारिक जीवन में कहीं त्रुटि है, तो उस पर भी इस कलाकार का ध्यान गया है। पृष्ठ ३४६ में सुधारकों को चेतावनी देते हुए वे लिखते हैं—“जब तक अन्तःकरण दिव्य और उज्ज्वल न हो, वह प्रकाश का प्रतिबिम्ब दूसरों पर नहीं डाल सकता।” आगे उन्होंने लिखा है—
 “हम वह काम करना चाहते हैं जिससे हमारा नाम प्राणि-मात्र की जिह्वा पर हो। कोई ऐसा लेख अथवा ग्रंथ लिखना चाहते हैं जिसकी लोग मुक्त-कंठ से प्रशंसा करें और प्रायः हमारे इस स्वार्थ-प्रेम का कुछ न कुछ बदला मिल भी जाता है ; लेकिन जनता के हृदय में हम घर नहीं कर सकते।” हमारे आजकल के नेताओं का इन वाक्यों

में कैसा चित्र खींच दिया गया है !

‘सेवासदन’ के लेखक में अतुलनीय अनुभव-शक्ति है। उसका हृदय जीवन की नाना प्रकार की परिस्थितियों के साथ तादात्म्य रखता है। ग्रामीण जीवन का वर्णन करते हुए प्रेमचन्दजी एक चित्र-सा खड़ा कर देते हैं, जिसमें स्वाभाविकता के साथ मार्मिकता का समावेश रहता है। उनकी कृतियों में जीवन का सच्चा रूप प्रकट हुआ है। गंगाजली और उनकी दोनों बेटियाँ पुलिस के पंजे में फँसे हुए कृष्णचन्द का चलते समय जब पकड़ने की चेष्टा करती हैं, उस समय कृष्ण का मूर्तिमान रूप पाठकों के सामने खड़ा हो जाता है। गंगाजली अपने भाई के घर पर बीमार पड़ती है और समानाथ उसकी दशा पर शोक प्रकट करते हुए वैद्य को लिवाने जाते हैं तो उनकी स्त्री जाह्नवी उनपर दूट पड़ती है और कहती है—“हाँ, हाँ दौड़ा, वैद्य को बुलाओ, नहीं तो अनर्थ हो जायगा। अभी पिछले दिनों महीनों मुझे ज्वर आता रहा तब वैद्य के पास न दौड़े। मैं भी ओढ़कर पड़ रहती तो तुम्हें मालूम होता कि इसे कुछ हुआ है ; लेकिन मैं कैसे पड़ रहती, घर की चक्की कौन पीसता।”

इन वाक्यों में एक साधारण स्त्री का वैमनस्यपूर्ण हृदय प्रकट हुआ है। न केवल हिंदुओं की पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक समस्याओं को प्रेमचन्दजी ने सुलभे हुए रूप में रखा है, प्रत्युत मुसलमानों के हृदय की बातों का भी अत्यंत स्पष्टता और सहृदयतापूर्वक वर्णन किया है। म्युनिसिपैलिटी के कई मुसलमान सदस्य पं० पद्मसिंह शर्मा के प्रस्ताव के साथ हैं। ये मुसलमानों के उस दल के प्रतिनिधि हैं, जिनके दिल में सचाई है, और जो देश के उत्थान में हिंदुओं के कंधे से कंधा मिलाकर काम करना चाहते हैं। अबुलकफा और उनके साथी मुसलमानों के दूसरे दल के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। डाक्टर श्यामाचरण और उनकी पुत्री के शतरंज खेलने का वर्णन, अध्यापिका के दिए हुए प्रमाणपत्र दिखलाने का

भाव तथा उसकी अंग्रेजी में निपुणता की बात हमारे आजकल के अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा में पले हुए परिवार की-सी गाथा प्रतीत होती है। स्थान स्थान पर प्रेमचंदजी ने जीवन-संबंधी अपने इस अनुभव को प्रकट किया है। प्रसंगों के वर्णन में तो वह है ही, साथ ही ऐसी चक्तियों द्वारा भी प्रकट हुआ है, जो किसी घटना पर सिंहावलोकन करते समय उनके मुख से निकल पड़ी हैं—पृष्ठ ३११ में सदन नाव लेने के लिए रुपयों का प्रबंध सोच रहा है, नाव मिल जाने पर वह किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करेगा, इसे कलना की दृष्टि से निश्चित करता जाता है। परंतु, अकस्मात् रुपए प्राप्त न होने का विचार उसके सब मनसूवों पर पानी फेर देता है। प्रेमचंदजी इस प्रसंग की समालोचना करते हुए बड़े सुन्दर शब्दों में अपना अनुभव प्रकट करते हैं—“युवाकाल की आशा पुआल की आग है, जिसके जलने और बुझने में देर नहीं लगती।” एक अन्य स्थान पर सुख-दुख-मिश्रित जीवन की वास्तविकता को प्रकट करते हुए वे लिखते हैं—“लहर यदि मीठे स्वयं में गाती है, तो भयंकर ध्वनि से गरजती भी है। हवा अगर लहरों को थपकियाँ देती है, तो कभी-कभी उन्हें उछाल भी देती है” (पृष्ठ ३१४)। किसी काम के करने में हम बहुत आगा-पीछा करते हैं ; परंतु जब एक भाव हृदय को प्राप्त होता है अथवा परिपक्व हो जाता है तो हम किसी के कहने से नहीं रुकते—अपने आप उस ओर चल पड़ते हैं। प्रेमचंदजी इस तथ्य को इन शब्दों में लिखते हैं—“कच्चा फल पत्थर मारने पर भी नहीं मिलता ; किंतु पककर वह अपने आप धरती की ओर आकर्षित हो जाता है।”

अपने ग्रामीण जीवन के अनुभव द्वारा सदन के अपनाने पर शांता की अवस्था का वर्णन प्रेमचंदजी ने इस प्रकार किया है—“जैसे जेट-बैसाख के तपन की मारी हुई गाय सावन में निखर जाती है और खेतों में किल्लोलें करने लगती है, उसी प्रकार विरह की खताई हुई रमणी अब निखर गई है—प्रेम में मग्न है।” ऐसे स्थल

जिनमें प्रेमचंदजी का गहरा अनुभव छिपा हुआ है 'सेवासदन' में एक नहीं, अनेक हैं। प्रसंगों के वर्णन में भी चाहे सदन का चरित्र देखिए और चाहे सुमनबाई का ; चाहे दालमंडी का चित्र देखिए और चाहे किसी पार्क की सैर का, चाहे मल्लाहों की स्त्रियों का और चाहे अपने कुटुम्बियों और उनके व्यावहारिक जीवन का—प्रत्येक क्षेत्र में प्रेमचंदजी का जीवन-अनुभव खरा और सच्चा उतरेगा।

भाव-जगत् में भी हमारे इस कलाकर का गहरा प्रवेश है। जिस परिस्थिति में, जिस प्रकार के विचार उद्भूत होते हैं वैसे ही विचार प्रेमचंदजी ने अपने पात्रों के द्वारा सम-विषम परिस्थितियों में प्रकट कराये हैं। दारोगा कृष्णचन्द का जीवन पवित्र था और शिश्तखोरी से एकदम पृथक् था। कन्या के विवाह को भीषण समस्या उन्हें इस दलदल की ओर ले गयी, और बे बेचारे उसमें बुरी तरह फँस गये—यहाँ तक कि उनके जीवन का अन्त भी इसी के कारण हुआ। यह परिवर्तन उनके पारिवारिक जीवन के लिए घातक सिद्ध हुआ और सेवा-सदन की समग्र घटनाओं का मूल कारण।

जाहूवी के रूप में हमें एक ऐसी स्त्री के दर्शन होते हैं जो केवल अपने परिवार को ही सब कुछ समझती है, सुमन और शांता उसे एक आँख अच्छी नहीं लगती। भावधारा की गंभीरता नीचे लिखे प्रसंगों में स्पष्ट दिखलायी दे रही है। (१) कृष्णचन्दजी का सुमन के संबंध में अपवाद सुनना और अन्त में भागीरथी में मग्न हो जाना। (२) सुमन के अन्दर घर से निकलने पर, दालमंडी से हटने के पूर्व और फिर सदन के धर में मदनसिंह, पद्मसिंह आदि पारिवारिक व्यक्तियों के आ जाने पर गंगा की ओर चल देने पर जो भाव प्रकट हुए हैं, वे बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं। (३) पृष्ठ ३४० में प्रेमचंदजी ने मा का हृदय भामा के इन शब्दों में प्रकट किया है—
“मेरे तो वह एक अन्धे की लकड़ी है, अच्छा है तो बुरा है तो अपना ही है। संसार की लाज से आँखों से चाहे दूर कर दूँ; पर

मन से थाड़े ही दूर कर सकती हूँ।” ३५५ पृष्ठ में पिता के प्रेम को प्रकट करते हुए प्रेमचन्दजी मदनमिह के शब्दों में लिखते हैं—“मूर्ख, मुझमें रूठने चला है। तब नहीं रूठा था जब पूजा के समय पोथी पर लार टपकता था। खाने की थाली के पास पेशाब करता था। उसके मारे उजले कपड़ों को तरस के रह जाता था।” पृष्ठ २८५ में मनुष्य दूमेरे के साथ अपने संबंध की अनेक बातें सोचता है, परन्तु उसका सबब पशुओं के साथ भी उतना ही सहानुभूतिपूर्ण होता है जितना पुरुषों के साथ। कालिदास की शकुन्तला आश्रम से दुष्यन्त के यहाँ जाने पर अरने सींचे हुए पौधों को देखकर प्यार करती है और हिरण के बच्चों को पुचकारती है। इससे वन्य जीवन एवं पशु-जगत् के साथ उसके हृदय की अभिन्नता सूचित होती है। प्रेमचन्दजी का हृदय भी बड़ा विशाल था। शांता जब पद्मसिंह और बिट्ठलदास के साथ अपने सुसराल जाने का उद्यत हुई, तो वह मुन्नी गाय के गले से लिपटकर रोने लगी। वह सचने लगी कि अब भविष्य में किसके लिए भूसी लेकर दौड़ेगी, किसके गले में काले डोरे में कौड़ियों की माला गूँथकर पहनावेगी? मुन्नी गाय भी सिर झुकाये उसके हाथों को चाटने लगी। कष्टों की अवस्था में दुःख-द्रवित हृदय के विस्तार का कितना सुन्दर चित्र इन पंक्तियों में है !

प्रेमचन्दजी ने इस भाव-जगत् में भारतीय पद्धति के अनुसार भाग्यवाद का सम्मिश्रण किया है। सेवासदन में कई स्थानों पर पात्रों के कार्य भाग्य द्वारा ही संचलित हुए हैं। पृष्ठ २६८ में कुँ० अनिरुद्धसिंह अपने जीवन की वर्तमान घटनाओं को पूर्व जन्म के कुकर्मों का फल मानते हैं। पृष्ठ २७८ में प्रेमचन्दजी पृश्चात्ताप को भाग्यवाद के अनुसार आत्म-सुधार के लिए अंतिम चेतावनी समझते हैं जो ईश्वर की ओर से मिलती है। पृष्ठ ३५८ में सुमनवाई के शब्दों में भी इसी बात का समर्थन करते हैं—“वह अवस्था भी तो मेरे पूर्व जन्मों के कर्मों का ही फल थी।”

प्रेमचन्दजी में वर्णन की अनुपम शक्ति है। जब वे किसी दृश्य अथवा व्यापार का वर्णन करते हैं तो उसका चित्र-सा अंकित कर देते हैं। इस वर्णन में वे प्रायः कुछ स्वसिद्ध उक्तियों का प्रयोग करते हैं और व्यापारों के संबंध में मनावैज्ञानिक रूपा से भावों का उत्थान और पतन (अंतद्वंद्व) बड़ी अच्छी तरह चित्रित करते हैं। साधारणतया प्रेमचन्द की रचनाओं में घटना का प्रधान वर्णन मिलता है; परन्तु कतिपय स्थानों पर यह वर्णन चमत्कारयुक्त भी हो जाता है। इनकी रचनाओं में उपमाएँ भरी पड़ी हैं। ये उपमाएँ हमारे दैनिक व्यवहार में आनेवाली वस्तुओं से संबंध रखती हैं जहा (कल्पना) के बल पर मस्तिष्क खरोच-खरोचकर नहीं निकाली गयीं। जैसे “आत्मवेदना ने सुमन के हृदय पर वही काम किया जो सखुन मैल के साथ करता है, अथवा जिस प्रकार कोई रोगी क्लोरो-फार्म लेने के पश्चात् होश में आकर अपने चिरे हुए फोड़े के गहरे घाव को देखता है और पीड़ा तथा भय से फिर मूर्च्छित हो जाता है—वही दशा इस समय सुमन की थी।”

प्रेमचन्दजी की शैली में सर्वत्र सरलता है। मनुष्य की कठिन से कठिन आंतरिक परिस्थिति को चित्रित करने में भी प्रेमचन्दजी सरलता को नहीं छोड़ते। सदन ने घाट के निकट जब सुमन को देखा, उस समय सुमन की परिस्थिति का वे इन शब्दों में चित्रण करते हैं—

“यह सुमन थी; किन्तु कितनी बदली हुई—न वह लंबे केश थे, न वह कोमल गात, न वह हँसते हुए गुलाब-से होठ, न वह चंचल ज्योति से चमकती आँखें; न वह बनाव-शृंगार, न वह रत्न-जटित आभूषणों की छटा—वह केवल सफेद साड़ी पहिने थी, उसकी चाल में गंभीरता थी और मुख से नैराश्य और वैराग्य का भाव झलकता था।” फिर संक्षेप में उसकी अवस्था का वर्णन वे इन शब्दों में करते हैं—“काव्य वही था; पर अलंकारविहीन और इसीलिए सरल एवं मार्मिक।” यदि हम इसी उक्ति को प्रेमचन्दजी की शैली पर घटित

करें तो कदाचित् अनुपयुक्त न होगा ।

सेवासदन में कहीं-कहीं शैली की सूक्ष्मता भी प्रदर्शित होती है । यह सूक्ष्मता ध्वनि और व्यंग्य, इन दो शक्तियों के द्वारा प्रकट की जाती है । जब उमानाथ शांता के लिए वर ढूँढ़ने को निकले और संध्या के समय नाव द्वारा नदी पार करने की बात सांचने लगे, तो शीघ्र ही उन्होंने मल्लाहों को आवाज दी । नावें दूसरी ओर थी, इसलिए उनके शब्द मल्लाहों के कानों तक न पहुँचते थे । इस घटना को प्रेमचंदजी ध्वनि के आधार पर इस प्रकार लिखते हैं—“उनकी करुण ध्वनि को मल्लाहों के कानों में पहुँचने की आकांक्षा नहीं थी । वह लहरों से खेलती हुई उन्हीं में समा गई !”

प्रेमचन्दजी ने पृष्ठ २४३ में करुण रस का अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन किया है । कृष्णचंद और शांता में उस समय जो वार्त्तालाप हुआ हुआ है, वह बड़ा ही मर्मस्पर्शी है । पृष्ठ २०० में हास्य का बड़ा सुंदर छीटा है—जब जनता ने सदन की बारात और शामियाने पर पत्थर फेंकने शुरू किये, मुंशी बैजनाथ उठकर छोलदारी में भागे । इसी प्रकार का हास्य सुमन के दालमंडी छोड़ने के समय का है जब चिम्मनलाल कुर्सी से गिरे, अबुलवक्का की दाढ़ी जल गयी और दीनानाथ के ऊपर बार्निश गिरी—यद्यपि यह हास्य सुमन की उस समय की हार्दिक अवस्था के अनुकूल नहीं है । मनुष्य की आंतरिक मनोवृत्तियों के चित्रण में प्रेमचन्दजी भली-भाँति सफल हुए हैं । परिस्थिति-विशेष के अनुकूल जो भावनाएँ किसी मनुष्य के मन में उत्पन्न होती हैं, उनका यथातथ्य चित्रण इनकी रचनाओं में मिलता है । सुमन, कृष्णचन्द, मदनसिंह आदि कई पात्रों के चरित्र में स्थान और पतन की अनेक मनोवृत्तियों का समावेश हुआ है । पृष्ठ ३३४ में लेखक अपने पात्रों की जीवन-क्रियाओं के साथ इतना तल्लीन हुआ है कि वह स्वयं उपन्यास के कथानक में भाग लेने लगा है । सुभद्रा और सदन में वार्त्तालाप हो रहा था । उसमें प्रेमचन्दजी अपनी

तटस्थता छोड़कर सुभद्रा की बातों की समालोचना करने लगते हैं, मानों वे स्वयं उपन्यास के अंदर एक पात्र हों। वे लिखते हैं—

‘सुभद्रा, यदि यही बातें तुमने पवित्र भाव से कही होतीं, तो हम तुम्हारा कितना आदर करते।’ कहा नहीं जा सकता कि प्रेमचन्दजी का कथा में भाग लेना कहाँ तक उचित होगा। उपन्यासकार को यह अधिकार है कि वह छूटी बातों को प्रसंग से संबंधित करने के लिए अपनी ओर से कह दे; परंतु वह कथानक के अंदर स्वयं एक पात्र बन जाय, ऐसा कदाचित् उचित नहीं होगा। हम इसका समाधान यही कर सकते हैं कि लेखक अपने पात्रों के वार्त्ताताप में इतना तल्लीन हो गया है कि उसे लेखक के रूप में अपनी स्थिति का स्मरण ही नहीं रहा। लेखक की आत्म-तल्लीनता ही इसका एकमात्र कारण है। ‘सेवासदन’ में लोकोक्तियाँ तथा अनुभूत बातों को लेकर विषय को हृदयंगम कराने की भी सुंदर चेष्टा की गयी है।

—प्रो० मुंशीराम शर्मा

२

आधुनिक हिंदी-साहित्य में जितने उपन्यास और धार्मिक विवाद-विवादपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, उनमें और किसी विषय में नहीं हुए। साहित्य-वाटिका में घूमिए। बहुत कुछ जमीन उपन्यास ही घेरे हुए हैं। हिंदी-रसिक दर्शकों तथा साहित्य-सेवक मालियों का ध्यान भी इसी ओर है। संसार भर के भजे-बुरे पैधे यहाँ मौजूद हैं। इधर देखिए तो बंगाली बंकिम और रवींद्र के साहित्य-मुमनों की कलमें हैं; उधर गुजरात से लाई हुई सरस्वतीचंद्र की बेज है। कहीं ह्यंगो और रूमा के ऐतिहासिक उपन्यासों की कलमें लगाने की कोशिश हो रही है। कहीं कुछ मज्जन अंग्रेजी साहित्य के कूड़े-कवरे से वाटिका को सुशोभित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। एक-आध कोने में छिपे

हुए, इने-गिने साहित्य-प्रेमी अपनी सच्ची साहित्य-सेवा का बीज बोते दिखाई देते हैं।

हिंदी में अनुवादित उपन्यास बहुत हैं—अच्छे और बुरे दोनों। परंतु, मौजिक उपन्यास बहुत कम हैं। कथा-कहानियों की भी कमी नहीं है; क्योंकि उनका जन्म बहुत पहले हो चुका था। परंतु, उपन्यास ने हिंदी-साहित्य में अंग्रेजी राज्य, अंग्रेजी शिक्षा और आधुनिक रुचि के साथ ही अवतार लिया है। परलोकवासी बाबू देवकीनंदन खत्री ने बहुत पहले ही इस अवतार की खूब आराधना की। उनके उपन्यासों ने अपने समय में साहित्य को बहुत कुछ लाभ पहुँचाया। समाज के चरित्र को बिना बहुत बिगाड़े उन्होंने हिंदी की ओर बहुत-से उपन्यास-रसिकों को आकृष्ट किया। जिनको तिलिस्मी कहानियों से शौक था, वे अब चंद्रकांता-संतति पढ़ने लगे। लेखक को भी आर्थिक लाभ हुआ। बस, फिर क्या था। ऐयारी से पूर्ण उपन्यासों की धूम मच गई। काशी का उपन्यास-वृक्ष इंद्रायणी फलों से लद गया। कुछ महाशयों ने—नाम लेने की आवश्यकता नहीं—प्रेम का पुट देकर अपने उपन्यासों को और भी जहरीला, किंतु मनोहर बना दिया। इन विष-भरे कनक-घटों से 'अमृत' पीकर देश के 'रसिक' नवयुवक अपने चरित्र-पट पर नया रंग रँगने लगे। इस ओर समाज का ध्यान भी न गया। न लेखक ने सोचा और न पाठकों ने ही, कि जब हमारी संतान यह देखेगी कि हमको इन्हीं गंदे उपन्यासों से शौक था, तब वह हमारे चरित्र के संबंध में क्या कहेगी।

परंतु आशा की झलक दिखाई दे रही है। अच्छे उपन्यासों का आदर बढ़ता जाता है—चाहे वे अनुवादित ही क्यों न हों। ऐसे समय में साहित्य-सेवियों का यह धर्म है कि अच्छे उपन्यासों की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करें और उनके लेखकों का उत्साह बढ़ाते रहें। इसी धर्म को यथाबुद्धि निबाहने के लिए आज हम पाठकों से 'सेवामदन' का परिचय कराते हैं। श्रीयुत प्रेमचंद की आख्यायिकाओं से तो वे

परिचित ही होंगे। यह उन्हीं की लेखनी से निकला हुआ पहला उपन्यास है।

यह उपन्यास ऐतिहासिक नहीं। इनकी तुलना न तो बंकिम कृत 'दुर्गेशनंदिनी' से हो सकती है और न स्काट कृत 'आईवनहो' से। यदि तुलना हो सकती है, तो रवीन्द्रनाथ या थैकरे कृत सामाजिक उपन्यासों से। परंतु इसमें भी कठिनाई है। सामाजिक उपन्यास के पात्र एक देश-काल से संबंध रखते हैं। उनका प्रभाव भी तभी तक रहता है, जब तक समाज अपनी रंगत न बदले। उसी देश में उनका आदर होता है, जहाँ उन्होंने जन्म लिया है। इसीलिए सामाजिक उपन्यासों का अनुवाद करना कठिन है और बेकार भी; अतएव एक दूसरे से इनकी तुलना करना कठिन है और अनुचित भी इनके गुण-दोष समाज-चित्रण ही पर आश्रित रहते हैं।

शैतान के दर्शन कराना बहुत अच्छा नहीं और न उच्चकोटि के साहित्य में उसका चित्र खींचना सरल ही है। चित्र खींचने के दो ढंग हो सकते हैं। एक कुछ सरल है और चित्रकार के लिए अच्छी रकम पैदा करने का द्वार भी है। दूसरा कठिन है। परंतु यदि चित्रकार चतुर न हो तो मेहनत घटे में रहेगा—गाँठ से भी कुछ खाना होगा। एक चित्र इतना लुभावना बनाया जा सकता है कि आप उसी से प्रेम करने लगें। दूसरा इस प्रकार दिखाया जा सकता है कि दिव्य होने पर भी उसकी ओर से आपके हृदय में भय तथा घृणा के भाव पैदा हों। इसी से इन दोनों के लिए साहित्य में भेद माना गया है। एक दूकानदारी है, दूसरा साहित्य का रत्न।

सदाहरण के लिए डिक्सेस और रेनाल्डस की ओर देखिए। ईंगलिस्तान के निर्धन मजदूरों पर दोनों की कृपा है। उनके अपार कष्टों का चित्र दोनों ने खींचा है। उनकी दरिद्रता से उत्पन्न पापों का कल्याणसूचक दृश्य दिखाने का प्रयत्न दोनों ने किया है। दोनों के हृदय में देश के अमीरों के चरित्रों की ओर से घृणा है। परंतु, दोनों

का क्रिया-कलाप अलग-अलग है। डिर्केंस के विषय में कहा जाता है कि यदि किसी उपन्यास-लेखक ने इंगलिस्तान के मजदूर-दल के उद्धार करने में सहायता दी है तो डिर्केंस ने। इसी से उसके उपन्यासों की गिनती देश के साहित्य-रत्नों में है। रेनाल्ड्स ने अपने देश को कहीं तक लाभ पहुँचाया, इसका उल्लेख न करना ही भला है। ईश्वर करे, हमारा साहित्य रेनाल्ड्स की कृपा-क्याया से वंचित रहे।

सौभाग्य की बात है जो 'सेवासदन' रेनाल्ड्स के उपन्यासों की भेणी का नहीं होने पाया। उसमें समाज के उस शैतान का चित्र खींचा गया है जो हमारे शहरों के खास-खास बाजारों के छुजों को सुशोभित किए हुए है। लेखक ने इस कठिन कार्य को बड़ी चतुराई के साथ पूरा किया है। जहाँ-तहाँ भाषा तथा भाव में दोष दिखाए जा सकते हैं। कहानी भी एक-आध जगह जरा असंबद्ध-सी जँचेगी। लेखक के चरित्र-चित्रण से भी, कहीं पर, पाठक सहमत न होंगे। परंतु, यह कहीं नहीं होने पाया है कि दालमंडी की गंदी बायु में घूमते हुए भी आपके विचार कलुषित हो जायँ। पाठक के भाव या तो पद्मसिंह से मिलेंगे या विट्ठलदास से। सदन या भोली से सहानुमति रखकर उनके मन में लालसा के भाव न उत्पन्न होंगे।

वारवनिताओं का आदर होने से गृहस्थाभ्रम का अभ्युत्पन्न होता है। 'सेवासदन' में कही गई कहानी के द्वारा उसके सद्धार की रीति बताई गई है। इस उपन्यास का प्रधान उद्देश्य यही है। परंतु, इसके परंतु, यह कहीं नहीं होने पाया है कि दालमंडी की गंदी बायु में घूमते हुए भी आपके विचार कलुषित हो जायँ। पाठक के भाव या तो पद्मसिंह से मिलेंगे या विट्ठलदास से। सदन या भोली से सहानुमति रखकर उनके मन में लालसा के भाव न उत्पन्न होंगे।

वारवनिताओं का आदर होने से गृहस्थाभ्रम का अभ्युत्पन्न होता है। 'सेवासदन' में कही गई कहानी के द्वारा उसके सद्धार की रीति बताई गई है। इस उपन्यास का प्रधान उद्देश्य यही है। परंतु, इसके

बनकर बहुत शीघ्र संसार से कूच कर जाती है। इस अग्नि-परीक्षा में हरिश्चंद्र ही का सत्य टिक सकता था। जेत से लौटने पर कृष्णचंद्र के चरित्र का अच्छा तरह पतन हो गया है। लेखक महाशय बहुत देर तक उनका हमारे सामने नहीं रहने देते। विात्ति-सागर में दा-चार और गाते लगाकर वह हमारी दृष्टि से लुप्त हो जाते हैं।

कृष्णचंद्र का-सा शोकमय अंत और किसी का नहीं। बाकी चरित्रों के पाठ में कहीं आनंद है, कहीं शोक और कहीं विप्लव; परंतु अंत शांतिपूर्ण है। इन चरित्रों में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य चरित्र सुमन का है।

अत्युक्ति न समझिए, सुमन ही के चरित्र चित्रण में उपन्यास का गौरव है। उसी में उपन्यास के प्राण हैं। सुमन के चरित्र में यदि कहीं भी बहटा लग जाय, तो उपन्यास किसी काम का न रहता। लेखक महाशय उस पदा-लिखाकर, और शारीरिक सुख का शौकीन बनाकर, गंदह रूप महीने पर नौकर एक अवेड ब्राह्मण के साथ ब्याह देते हैं। चरित्र-चित्रण में सुमन को एक इसी बात ने बचा लिया है कि वह भारतीय नारी है। वह पतिव्रता है सही; परंतु आत्म-गौरव और शारीरिक सुख की लालसा उसको वह व्रत निवाहने नहा देती। इधर वह देखती है कि समाज में पतिव्रत की कोई कदर नहीं। घर के सामने ही वह देखती है कि पतिता भोली का आदर-सम्मान बड़े-बड़े बर्मश करते हैं; पर उसके लिए इतना भी नहीं कि वह अपनी मर्यादा को एक नच सिपाही के हाथ से भी बचा सके! पति महाशय (गजधरजी) क्या करें? पत्नी के वस्त्राभूषण और मान-प्राप्ति की लालसा को वे कुछ और ही समझे। एक दिन आग लग हो तो गई। सुमन गृहिणी के उच्च पद से गिर गई।

परंतु अभी कुछ और पतन होना बाकी है। दूसरे दृश्य में उसे हम दालमंडी के एक कमरे में देखते हैं। यदि लेखक महाशय ज़रा भी चूल्ह जलो तो सुमन के पतन की पैराकाशा हो जाती। सदाशिव

प्रेम-पाश में सुमन फँस जाती है ; परंतु पतित नहीं होने पाती । इसके पहले ही समाज-सुधारक विठ्ठलदास उसके उद्धार के लिए पहुँच जते हैं ; पर उसका उद्धार नहीं होता । विधवा-आश्रम में उसका बहुत शोष लाया जाना, समाज की कृपा से उसके उद्धार-विरुद्ध कठिनाइयों का पड़ना, शांता की विपत्ति, उसके भावी श्वसुर मदनसिंह का विरोध—इनमें से किसी एक का भी काम कर जाना सुमन को गिरा देने के लिए काफी था । परंतु, लेखक उसको हर तरह से बचाकर अन्त में सेवसदन की संचालिका का पद तक दे देते हैं । सुमन ने अपने ही को नहीं, उन्न्यास को भी गिर जाने से बचा लिया ।

स्त्री-प्राप्ति में यदि प्रवान चरेत्र सुमन का है, तो पुरुष पात्रों में पद्मसिंह का मानने योग्य है । कथा-प्रसंग में वे कुछ देर बाद दिखाई देते हैं ; परंतु फिर वे सामने से नहीं हटते । पद्मसिंह साधारण समाज-सुधारक हैं । विचारों के बहुत ऊँचे हैं, हृदय के कोमल हैं ; परंतु हैं बड़े दबू । ऐसे पुरुष लेख चाहें जितने लिख मरें, वक्तृताएँ चाहे जितनी भाड़ आर्य ; परंतु मौका पड़ने पर रहेंगे सबके पीछे । नाच के बड़े विरोधी ; परंतु मित्रों ने दबाया तो जलसा करा बैठे । इसका उन्हें बहुत कुछ प्रायश्चित्त भी करना पड़ा—न यह नाच होता और न सुमन घर से निकाली जाती । वे विठ्ठलदास की शरण लेते हैं ; परंतु उनसे पद्मसिंह की नहीं बनती । जैसे वे कर्म में कच्चे हैं, वैसे ही विठ्ठलदास विचार में कच्चे हैं । चंदा वसूल करने में कठिनाई ; बारांगनाओं को शहर के बाहर जगह देने के प्रस्ताव का म्युनिसिपैलिटी के मंत्रियों-द्वारा विरोध ; इधर घर में सदनसिंह की ज्यादती, उधर सुमन की छोटी बहन शांता के साथ सदनसिंह के विवाह में विघ्न पड़ने की चोट—पद्मसिंह बिलकुल ढंले पड़ गये । परंतु, विचारशक्ति में कमी नहीं पड़ी—उन्हीं के द्वारा लेखक महाशय ने अपना विचार प्रकट किया है कि वारनारियों को निकाल देने ही से सुधार न हो जाएगा ; बल्कि और उनकी संतान को अच्छे मार्ग पर लाने

का प्रयत्न किया जाय ! इस विचार को विट्ठलदास सेवासदन के रूप में परिणत करते हैं। परंतु, पद्मसिंह के हृदय में अंत तक भय की सत्ता बनी रहती है। भौंर के मारे वे सेवासदन में नहीं जाते ; कहीं ऐसा न हो जो सुमन से चार आँखें हो जायँ ।

और भा अनेक पात्र हैं। सरला शांता को अनेक कष्ट सहन करके भी, अंत में सौभाग्यवती गृहिणी का सुख भोगना बड़ा था। चंचला; परंतु पतिव्रता सुभद्रा, आपद्वाएँ भेलकर भी, पति के सामने हँसती ही रहती है। गृहस्थ गजाधर के संन्यासाश्रमी अवतार गजानंद, अंत में बहन के घर से निकाली हुई किसी समय की अपनी पत्नी को शोक-सागर से उबारकर शांति-प्रदान करते हैं। पुराने विचार के देहाती रईस मदनसिंह नाच कराने में अपनी मर्यादा समझते हैं। दुलार से बिबड़े हुए नवयुवक सदनसिंह का पतन, और अपनी ही मेहनत द्वारा उद्धार ; म्युनिसिपैलिटी के मंत्रियों में से कोई गान-विद्या और हिंदी के शौकीन हैं; किसी को अंग्रेजी बोले बिना चैन नहीं; किसी के दुर्ग्यसन वैसे ही हैं जैसे उसके दुर्विचार—इन सब के लिए इस उपन्यास में जगह है; सबके चित्र देखने को मिलते हैं, सबसे किसी न किसी प्रकार की शिक्षा ग्रहण करने का अवसर प्राप्त होता है।

उपन्यास के पात्रों से दृष्टि हटाकर यदि वह उसके उद्देश्य की ओर प्रेरित हो जाय, तो एक बहुत बड़ा सामाजिक प्रश्न सामने आ जाता है। क्या वह 'सेवासदन', जिसकी भूलक हम उपन्यास स्वप्न में देखते हैं, कभी प्रत्यक्ष भी देखना नसीब होगा ? प्रश्न कठिन है। शहरों की सड़कें दिन पर दिन बढ़ती जा रही हैं। इस काम को म्युनिसिपैलिटियों के करोड़ों खर्च से ही संभव होना संभव नहीं है। देखें, हमारी नगरपालिका-प्रभाएँ इस तरह की कमीटर लग करती हैं। लेखक के विचार यदि सत्यता के समाने, पालक-काला पर कुछ ही खर्च करें, तो काला वह कहीं-कहीं रोक-के-हुक ही बन ।

दुर्गमसिंह का कष्ट

सेवासदन से प्रेमाश्रम तक

['सेवासदन' प्रेमचंद का पहला हिंदी-उपन्यास है। और, जिस युग-परिवर्तन का उल्लेख लेखक ने किया है, उसका आरंभ इससे हो गया। लेखक के चरित्रों में मनोवैज्ञानिक आधार आ गया। वे जीवन को उसके उतार-चढ़ावों के साथ मानते चले हैं, और भिन्न-भिन्न स्थितियों में विभिन्न आचरण होते हुए भी वे अपने एकसूत्र-जैसे व्यक्तित्व के कारण पहचाने जा सकते हैं। कृष्णचंद्र आरंभ में एक पवित्रात्मा हैं, वही परिस्थितियों से विवश होकर रिश्वत लेकर पतित होते हैं, वही जेल से लौटकर अपने क्षोभ का जीवन प्रलाप और प्रमाद से व्यतीत करते मिलते हैं—उन्हीं को हम गंगा में विसर्जित होते देखते हैं। इन सब विविधताओं में भी कृष्णचंद्र का व्यक्तित्व निरंतर बना रहता है। उस काल के उपन्यास-जगत् में यह क्रांति का कारण था। 'सेवासदन' में लेखक का एक स्पष्ट उद्देश्य था। जो जागृति-बारा पैदा हो गयी थी, यह रूढ़ियों में बड़ी अड़चन अनुभव कर रही थी। प्रेमचंद इस जागृति के दूत बने, उस धारा के प्रवाह को सहायता पहुँचाने के लिए इन्हें अपनी लेखनी को सँभालना पड़ा। 'सेवासदन' की कहानी बनायी। कृष्णचंद्र रिश्वत लेना पाप समझते हैं; पर लड़की के विवाह के लिए यह पाप करना पड़ा। बस, यही पाप उपन्यास का बीज है। इसी पाप ने विष का यह वृक्ष खड़ा किया कि फल हुआ अमृत-सा सेवासदन। इस उपन्यास को लिखते-लिखते ही लेखक ने जाना होगा कि विष का फल अमृत भी होता है। उस पाप

का, जो नैतिक के साथ कानूनी भी था, कृष्णचंद्र को दंड भोगना पड़ा; वे जेल गये—उनकी लड़की सुमन का विवाह एक दरिद्र के साथ हुआ। सुमन के विलास में पले सौंदर्य और गजानंद की असमर्थ दरिद्रता में पटी नहीं; परस्पर संदेह उत्पन्न हो गया। सुमन को घर छोड़कर वेश्या बनना पड़ा। इस कलंक से उसकी छोटी बहिन का विवाह रुक गया। यहाँ से कहानी में प्रतिक्रिया आरंभ हुई। छोटी बहिन सुमन से बिलकुल भिन्न स्वभाव की निकली। उसने सदन को अपना पति मान लिया। सुमन का पति साधू हो गया—उसका प्रायश्चित्त आरंभ हो गया। सुमन भी पवित्र जीवन बिताने लगी। शांता ने सदन को जीत लिया। वह अपने पिता की अवहेलना करना हुआ दो शांता को अपना सका। सुमन ने स्वामी गजानंद के साथ वेश्याओं के उद्धार और सुधार के लिए सेवासदन नाम की संस्था स्थापित कर दी। सेवासदन पाप का परिणाम है। एक पाप ने दूसरे को, दूसरे ने तीसरे को जन्म दिया—और उसके प्रायश्चित्त में विदग्ध होते-हाते जब मूल पाप-कत्ती ने जल-समाधि ले ली, तभी प्रतिक्रिया आरंभ हुई। जहाँ टेकनों की दृष्टि से लेखक ने उपन्यास को मनोवैज्ञानिक आधार देने का साहस किया, वहीं उसने एक कठिन समस्या पर भी हाथ लगाया। समस्या थी 'वेश्या'-संबंधी। विकटर ह्यूगो के 'ला मिजराव' को पढ़कर 'चोर' के प्रति जैसे सहानुभूति उत्पन्न होती है, और यह समझ में आता है कि 'चोरी' जैसी चीज स्वयं 'पाप' नहीं, अपराध नहीं, वह समाज और अर्थ विधान के दूषित प्रभावों का ही विकृत परिणाम है, वैसे ही 'सुमन' के चरित्र में जो चीज हम पाते हैं, वह हमें वेश्याओं पर विचार करने को बाध्य कर देती है। क्या वे गृणा की पात्र हैं? वे आखिर हैं ही क्यों? हम जानते हैं कि लेखक वेश्याओं के दूषित प्रभाव को मानता है। 'सुमन' का पतन वेश्या के नृत्य और उसके सम्मानित समाज में आदर के कारण हुआ, पर वह उन वेश्याओं के प्रति सहानुभूति ही उत्पन्न

कराता है। समाज-व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन करने की बात थी। इन वेश्याओं के लिए नगर से बाहर स्थान बनाने की योजना भी अभूतपूर्व रही। लेखक ने अपने उन्मत्त के लिए जिस समस्या को पकड़ा, वह महत्वपूर्ण इसलिए है कि यदि मानवीय दुर्बलताओं के नग्न-नरक में किसी प्रकार कांति की चिनगारी पहुँच सके, तो फिर आगे की गति सहज हो सकती है।

वेश्याओं के प्रति सहानुभूति पाठकों को सज्ज ही बहुत ऊँचाई पर पहुँचा देती है। इस एक सद्भाव से ही उसके रुढ़िग्रस्त विचार उन्मुक्त वातावरण में साँस लेने लगते हैं। पापियों के प्रति वह उतना निष्ठुर नहीं हो सकता, और पापी को बहिष्कार करके उनका पृथक् समुदाय नहीं बनने देगा। वह पाप को नहीं, पापी को देखेगा—और पापी को प्रायश्चित्त में पाकर वह उसे क्षमा भी कर सकेगा। पर यह प्रायश्चित्त क्या है? शुद्धि की अनवग्न चेष्टा—सेवा करते हुए। सेवा ही वह मार्ग है। 'निटूलदास' उस सेवा के प्रती हैं, गजानंद भी प्रती हैं। गजानंद स्वामी हैं, उनके पास अंतर्दृष्टि नहीं तो आत्मबल आ गया है। उसीके आधार पर वे 'सुमन' से कहते हैं—
'सतयुग में मनुष्य की मुक्ति ज्ञान से होती थी, द्वापर में भक्ति से,
त्रेता में सत्य से ; पर इस कलियुग में इसका केवल एक ही मार्ग है और
वह सेवा है। इसी मार्ग पर चलो और तुम्हारा उद्धार होगा। जो लोग
तुमसे भी दीन, दुखी, दलित हैं, उनकी शरण में जाओ, और उनका
आशीर्वाद तुम्हारा उद्धार करेगा। कलियुग में परमात्मा इसी दुःख-
सागर में वास करते हैं।"

वेश्यात्व से लांछित सुमन को, इन सब प्रायश्चित्तों के बाद भी, लेखक पीछे नहीं लौटा सका है। इसीलिए संस्था की अपेक्षा प्रतीत हुई। व्यक्ति ने संस्था का सहारा पकड़कर यह जैसा समाज है, उससे एस्केप प्राप्त किया है। इस दृष्टि से संस्था रक्षा भी करती है और व्यक्ति के विकास और परिष्कार में भी सहायक होती है।

‘सेवासदन’ में लेखक ने घर के अंदर कम प्रवेश किया है। उसके समस्त जो समस्या खड़ी थी, वह सामाजिक थी; अतः घर का भी वही पहलू आया है। सुमन का अपना घर, पद्मसिंह का घर, मदनसिंह का घर, उमानाथ का घर, इन सबके दृश्य घर की समस्या सुलझानेव ले नहीं। पद्मसिंह का घर सुमन-मानस को तरंगित करने और उसकी परिस्थितियों का प्रभावोद्गने करने के लिए ही है। उमानाथ का घर घटना-सूत्रों को जोड़ने के लिए है। हाँ, मदनसिंह के घर में कुछ है। मदनसिंह और पद्मसिंह का आश्रित्व, मदनसिंह का सदन के प्रति वात्सल्य, ये चीजें हैं। यह वात्सल्य ही मदन की परिणति कर देता है। जो सदन से मान करता है, वही पौत्र के जन्म के समाचार से विकल होकर मान-मर्यादा की भी चिंता न कर उसका होने को दौड़ता है। व्यक्ति के ‘संबंध’ ने निर्जीव मर्यादा और रूढ़ियों पर विजय पायी। पिता को स्पष्ट विदित हुआ कि वह हार गया और, उसे हार स्वीकार करनी पड़ी।

‘सेवासदन’ के सभी पात्रों में प्रायश्चित्त की प्रवृत्ति है—संघर्ष की नहीं। सुमन में कुछ कमजोर संघर्ष है—वह है संयम और ‘लिप्सा’ का संघर्ष। लिप्सा वह नहीं, जो महत्वाकांक्षा कही जा सके, वह लिप्सा जो अपनी सीमाओं के दुःख से मुक्ति चाहती है। यदि सुमन सुख और प्रतिष्ठा चाहती है, तो उसमें पाप नहीं कमाती; पर उसे पाने के जिस मार्ग का वह अवलंबन करती है, या जो उसे अवलंबन करना पड़ता है बस, वही और वही पाप है। इसी लिप्सा का संयम के सुख से संघर्ष है। उपन्यास का क्षेत्र संकुचित है—नगर से बाहर नहीं ले जाया गया। मध्यवर्ग ही आया है।

नागरिक समस्याओं में चुंगी और वेश्या हैं, सामाजिक में विवाह, हिंदू और मुसलमानों के वर्ग तो हैं और वे अलग-अलग विचार करते भी दीखते हैं, पर केवल चुंगी में राय देने के संबंध में ही। साधारणतः इनमें सद्भाव है।

‘सेवासदन’ से ‘प्रेमाश्रम’ आते-आते प्रेमचंद में परिवर्तन उपस्थित हो गया है। ‘सेवासदन’ में लेखक नगर तक ही रहा, गाँव को ओर उसने बहुत साधारण दृष्टि-निक्षेप किया। ‘प्रेमाश्रम’ में गाँव प्रमुखता पाने लगा है। ‘सेवासदन’ के पात्र सोचे और भोले—भूल अथवा पाप करके पल्लवानेवाले, एक शब्द में सहज चरित्र के हैं। ‘प्रेमाश्रम’ में पात्रों के एक वर्ग में जहाँ सहजता है, वहाँ दूसरे में कुटिलता भी है। वह कुटिलता सहज प्रेम्णा और शिक्षा का परिणाम है। ‘सेवासदन’ वाली ‘लिप्सा’ या ‘चाह’ यहाँ भी है; पर वह केवल सीमाओं के असंतोष की अभिव्यक्ति नहीं, दरिद्रता की चीत्कार नहीं—वह है लज्जरी, विलास-वैभव की लिप्सा। और, यह लिप्सा सुमन में उत्पन्न होकर जहाँ संयम-सुख से अंतर्स्पर्श कर सकी थी, वहाँ ‘प्रेमाश्रम’ में उसने ज्ञानशंकर में अपनी मूर्ति ही बना ली। ज्ञानशंकर के पास यह अंतर्स्पर्श नहीं, अपनी लिप्सा का पोषण करने के लिए वर्तमान शिक्षा से मिले हुए तर्क और उनसे बने हुए विश्वास और धारणाएँ उनके पास हैं। इनका स्पर्श प्रेमशंकर से है। प्रेमशंकर जैसे संयम-सुख के प्रतीक बन गये हैं। सजीव हैं, मानवीय उतार-चढ़ाव से अलग भी नहीं; पर जैसे सुमन में आत्म-संयम का जो बीज था, और जिसे लिप्सा ने फुलसा दिया है, वही अपने अलग अस्तित्व के लिए, अपनी स्थान बनाने के लिए, अपनी शक्ति सिद्ध करने के लिए प्रेमशंकर में अंकुरित हुआ है। ‘सेवासदन’ में सुमन विट्ठलदास का सहाय लेकर ही उस लिप्सा पर विजय प्राप्त कर सकी थी। विट्ठलदास संयम और सेवा के पुजारी थे; गति और कर्म में उनका विश्वास था। यह बात प्रेमशंकर में मिलती है। सुमन के अंतर्द्वंद्व में फुलसा बीज विट्ठल से पुरुषत्व पाकर प्रेमशंकर बना। ‘प्रेमाश्रम’ में भूल और पाप का उतना स्थान नहीं। भूलें हैं, पाप भी है, उनका प्रायश्चित्त भी है। गायत्री की भूल प्रायश्चित्त में ही परिणति पाती ही है—पर यह प्रवृत्ति ‘प्रेमाश्रम’ में अत्यंत मंद हो गयी है। मंद हो गयी है का अर्थ

यह कदापि नहीं कि प्रभाव-शून्य हो गयी है, उसका अर्थ केवल यह है कि जहाँ 'सेवासदन' में यही तार बजता हुआ अन्य सहवर्गी तारों को झनझना रहा था, वहाँ 'प्रेमाश्रम' में यह तार है, पर लुआ कम गया है। बिना हुए भी यह अपना स्वर दूसरे तारों के स्वरों में मिला रहा है। ज्वालासिंह, डा० प्रियनाथ, ईर्फानअली, दयाशंकर—सभी जैसे अंतर में अपने कुछ किये गये कर्मों पर पश्चात्ताप करते हैं; और नहीं, वे अपना स्वरूप बदलते हैं। चोला भी बदलने को तत्पर हो जाते हैं। यह चोला बदलने की बात ज्ञानशंकर में भी कुछ-कुछ परिलक्षित होती है, तब जब कि वे अपने निश्चित स्वप्नों को पूरा हुआ पाते हैं; पर वहाँ वह परिवर्तन चोला बदलना नहीं केवल रंग बदलना है। उस नहीं की धारा की भाँति है जो पहाड़ों में टकराकर, उनसे संघर्ष कर, एक उदाम, उद्दण्ड कोलाहल कर उन्हें चीरते हुए मैदानों में—हरियाले मैदानों में अपना मार्ग पाकर मंथर होते-होते उस उद्दण्डता, कोलाहल, संघर्ष को विचार देती है और अपने कलुष—मटमैलेपन को अपने तल और कूल में जमा करती हुई उज्ज्वल लगने लगती है। वहाँ न प्रायश्चित्त है, न पश्चात्ताप। हाँ, मानव-स्वभाव की आदि पवित्रता और अंतर उज्ज्वलता का प्रमाण भर है। जैसे ज्ञानशंकर ने जो शिक्षा पायी, वह अपना अभीष्ट पाकर निरस्त हो बैठी। इस शिक्षा ने ज्ञानशंकर की सबल बनाकर उससे कितने स्वोंग भराये हैं जो उस को अपने मानव से भी अधिक महत्त्वपूर्ण लगने लगे हैं। वह स्वोंग में भूला रहना चाहता है; पर गायत्री का प्रायश्चित्त उस स्वोंग का अंत कर देता है। तभी 'प्रेमाश्रम' इस आधुनिक शिक्षा का, जिसे भौतिक शिक्षा या पश्चात्य शिक्षा नाम दिये जाते हैं विराट् स्थंभ बन गया है। ज्ञानशंकर ने यह भौतिक शिक्षा भारत में, इस हुजूम देश में, पायी है। शोषण उसका प्रधान केंद्र है, और यही हम उनमें पाते हैं। प्रेमशंकर ने भी यही शिक्षा पायी है, पर स्वतंत्र देश अमेरिका में; अतः वे वस्तुओं का ठीक मूल्य आँकने में ज्ञानशंकर

से अधिक सफल होते हैं। उनमें आदर्शवादिता है। उनमें आकर्षण है—जैसे उपन्यास की गति ही वह है, उनमें पारस भी है। उन्होंने सबसे पहले नैतिकता से जगत् को मूल्यांकन करने की ओर प्रेरित किया है, पर धन को—अर्थ को वे अपदार्थ नहीं कर सके। उस इह तक भौतिकता का पलोथन उनमें लगा रहा। वे जिस चीज को अपने व्यक्तित्व से प्रकाशित करने चले हैं, वह है तो 'सेवासदन' में प्रस्तावित 'सेवा' ही, पर प्रेम के स्नेह से वह बहुत स्निग्ध और कोमल तथा मधुर हो रही है और जहाँ 'सेवासदन' में 'सेवा' प्रायश्चित्त का रूपहताश मानव का एक आभय, एक धार्मिक और नैतिक विधान की भाँति था, 'प्रेमाश्रम' में वह जीवन का अंग बनना दोख रहा है। सुमन दुखी थी, गजानन्द खुशी थे। वे सेवा में शांति पा सकते थे। वे उस ओर गए इसी कारण। पर प्रियनाथ, इफान्जली, जमलासिंह संसार के लिए और अपने लिए उस प्रकार दुखी न थे जिस प्रकार सुमन और गजानन्द। उन्हें अपने वैभव को टुकराना पड़ा है, अपने जीवन के तत्त्व को पाने के लिए। उस जीवन-तत्त्व का अस्तित्व जीवन-तत्त्व के रूप में पहले-पहल प्रेमशंकर ने उपस्थित किया। यदि अंतिम परिणति की दृष्टि से देखा जाय, तो सुखी प्रेमशंकर भी हैं। वे आदर्शवादी, और कम सुखी ज्ञानशंकर भी नहीं—वे घोर यथार्थवादी। पर दो चित्र लेखक ने साथ-साथ रख दिए हैं और लेखक की महानता वहाँ है, जहाँ उन्होंने ज्ञानशंकर को जुद्ध और धृष्य रखते हुए भी उसे अपने प्रति अवश्य ईमानदार बनाया है। जैसे उसकी जुद्धता और धृष्यास्पदता जहाँ है, वहाँ केवल दूसरों की राय ही है—सच्चाई होते हुए भी सच्चाई नहीं, स्या-यह बात समझी जा सकती है !

हाँ तो, प्रेमशंकर ने सेवा को जीवन का अंग बनाया, और वह अपरिग्रह के उपद्रवों में से होते हुए प्रतिभा-विशोग्य साम्यवाद के समुज्ज्वल श्यामल क्षेत्र की ओर प्रभावित दीखती है। इसी का वह

परिणाम हुआ है कि जहाँ 'सेवासदन' समाज से (एस्केप) छुटकारे के लिए स्थापित होता है, वहाँ 'प्रेमाश्रम' समाज को एक व्यवस्था देने के लिए समाज की सेवा करने को नहीं, समाज में सेवा को जीवन-तत्त्व की भाँति ग्रहण कराने के लिए खड़ा हुआ है। 'प्रेमाश्रम' में सेवा उसी धारणा के साथ आई है, जिसके साथ एक यथार्थवादी के जीवन में धन-सम्मान आता है।

'सेवासदन' के हिंदू-मुसलमान 'प्रेमाश्रम' में कुछ बल प्राप्त करते हैं। गाँवों में कादिर और मनोहर हिंदूपन और मुसलमानियत को मानव से नीचे रखते हुए ऐसे चलते हैं, जैसे एक हों, अभिन्न हों—जैसे हिंदू होना और मुसलमान होना अपने-अपने शरीर और आकृति की भिन्नता की भाँति पृथक्ता रखते हुए उन विभिन्नताओं में किसी एक अटूट और अधिक यथार्थ एकता का अनुभव कराने के लिए हों—वहाँ नगरों में इत्तहाद की गूँज भी है; यानी हिंदू और मुसलमानों में कोई ऐसी भिन्नता है जो स्वयं एक तल पर नहीं आ सकती, और उसको उस तल पर लाने के लिए ऐसे उद्योगों की आवश्यकता है। फिर भी लेखक का समाज प्रधानतः हिंदू-समाज ही है।

प्रेमाश्रम में जैसे ही लेखक गाँवों में पहुँचा, जमींदार उसके सामने उपस्थित हो गए। नगर की चुंगी को छोड़कर वह असंबलियों अथवा कौंसिलों की ओर बढ़ गया। इस नागरिक जीवन की जटिलता को अभी उसने विशेष नहीं लिया, असंबलियों के सदस्यों की उपहासास्पद स्थिति की ओर इंगित करके ही वह रह गया है। पर, सारी कहानी गाँवों को केंद्र बनाकर चलती है। उसमें ज्ञानशंकर की कुटिलता या जटिलता, द्विपहलू गति लेकर जहाँ गाँवों में जमींदारी शासन की कठोरता दिखाती है, वहाँ गायत्री को छलने राधाकृष्ण का स्वर्ग भी भरती है। वहाँ प्रेम का वासना-संपर्कित उद्दाम-रूप दृष्टिगोचर होता है। वह सब जिसपर सुगृहिणी का बलिदान बड़ी

प्रसन्नतापूर्वक चढ़ा दिया जाता है, या जो दानवत्व के निकट जा पहुँचा है। और इस दानवत्व को आशीर्वाद भी मिलता है।

गायत्री जैसे पथ-भ्रष्ट सरिता है, जो अपने अभीष्ट सागर में मिलने से पूर्व ही अपने पश्चात्ताप की अग्नि से बने रेगिस्तान में सूखकर विलीन हो जाती है। लेखक ने वहाँ लिखा—“विधाता ने तेरे (गायत्री अपने अंदर ही आत्म-दुर्निश्चिन्ता कर रही है) भाग्य में ज्ञान और वैराग्य नहीं लिखा।” इन दुःकल्पनाओं ने गायत्री को इतना मर्माहत किया कि पश्चात्ताप, आत्मोद्धार और परमार्थ को सारी सद्बुद्धि लुप्त हो गयी। उसने उन्मत्त नेत्रों से नीचे की ओर देखा, और तब जैसे कोई चोट खाया हुआ पक्षी दोनों डैने फैलाये वृक्ष से गिरता है, दोनों हाथ फैलाये शिखर पर से गिर पड़ी। नीचे एक गहरा कुंड था। उसने उसकी अस्थियों को संसार के निर्दय कटाक्षों से बचाने के लिए अपने अंतस्थल के अपार अधकार में छिपा लिया।

एक नया सूत्र इस ‘प्रेमाश्रम’ में उठाया गया है। वह श्रद्धा ही है। पूर्णतः लीकतावादी किंतु अत्यंत करुण और उदार। पति को वह कितना प्रेम करती है; पर इसलिए कि वे अमेरिका जहाज में बैठकर हो आये हैं, वह उन्हें ग्रहण नहीं कर सकती, जब तक वे प्रायश्चित्त न करें। जैसे श्रद्धा रूढ़ियों की कोई अवशिष्ट कड़ी हो, इसे भी विचलित हो जाना पड़ा। प्रेमशंकर के त्याग और सेवा-भाव ने उनमें जिस दिव्यता और पवित्रता का प्रकाश भरा, उनकी निर्भल यशश्री का धवल रूप जब उसने स्वयं देखा और समझा, तो उसे प्राचीन परिपाटी से प्रायश्चित्त का महत्त्व एक भ्रम प्रतीत हुआ। यह त्याग-तपस्या स्वयं उसे उत्तम प्रायश्चित्त—उग्र प्रायश्चित्त लगा जिसमें उसका पति कंचन-कुंदन की भाँति दमक उठा था। श्रद्धा तब बिगलित हो चरणों पर गिर पड़ी।

‘प्रेमाश्रम’ में गृह की ओर भी लेखक झुका है। प्रभाशंकर हिन्दू

घर के ही प्रतीक हैं। वही मोह, वही निर्द्वंद्वता, वही ठाढ़-बाढ़, वही घर के सम्मान का ढकोसला—यह सब है और कितना भव्य है यह सब। प्रभाशंकर के कार्य एक भव्यता से आवृत्त हैं, फिर चाहे वे कितने ही हलके क्यों न हो गये हों। हाँ तो, घर में उन्होंने प्रवेश किया है—वहाँ पर, किन्तु, स्त्रियों का स्वर उतना उच्च नहीं जितना पुरुषों का। उन्हीं का पारस्परिक संघर्ष और वैमनस्य है। यहाँ तक कि प्रेमचंदजी ऐसी एक स्त्री नहीं पा सके जो अपना निजी व्यक्तित्व रखने में सचेष्ट हो—वह निजी व्यक्तित्व जो स्त्रीत्व के व्यक्तित्व के अतिरिक्त होता है।

इस उपन्यास में लेखक ने बालकों को भी लिया है। अपनी कल्पनाशील अवस्था में होड़ के लिए—अपने चचेरे भाई माया शंकर से भी अधिक धनवान् और प्रतिभावान् बनने के लिए वे तन्त्रों में विश्वास करने लगते हैं, और उनपर बलि हो जाते हैं।

‘सेवासदन’ में गजानन्द साधु—कर्मण्य साधु बनकर रह गया था—‘प्रेमाश्रम’ में रायसाहब आत्मिक अभ्युत्थान प्राप्त कर तेज-सम्पन्न महात्मा हो जाते हैं।

‘सेवासदन’ में हमें विवाहित अवस्था ही मिली, ‘प्रेमाश्रम’ में ‘विधवा’ का भी प्रवेश हुआ। वह विधवा अपने प्रेम को उद्दीप्त कर लांछित हुई, और किसी कामना को लिए विज्ञीन हुई। देखें, वह फिर कभी अवतार लेती है या नहीं।

‘प्रेमाश्रम’ में संस्थाएँ रहीं; पर उनका रूप ‘सेवा-सेदन’ की संस्था से भिन्न था। ‘प्रेमाश्रम’ की संस्था व्यक्ति के अपने-से लोगों का स्वेच्छा से मिलकर बना एक समाज था।

—प्रो० सत्येन्द्र

प्रेमाश्रम

१

प्रेमाश्रम में वे सभी विशेषताएँ मौजूद हैं जो प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों में हैं और यद्यपि स्वर्गीय रामदास गौड़ के बहुत-से मित्र सेवासदन की उत्तमता के कारण डर रहे थे कि प्रेमचंद की दूसरी कृति इतनी चोखी न हो सकेगी ; परंतु प्रेमाश्रम को देखकर उनका डर निर्मूल सिद्ध हुआ था ; क्योंकि “हिंदी माता के सुपुत्र ने मौलिकता-सागर से मथकर यह दूसरा रत्न पेश किया, जो पहले से कहीं ज्यादा कीमती और सुंदर है” ; तथापि मैं यह कहने का साहस कर रहा हूँ कि सुंदर और कीमती चाहे जितना हो, इस उपन्यास में प्रेमचंद की वह मौलिक विशेषता गौण हो गयी है जो उनकी अन्य समस्त रचनाओं में पायी जाती है ।

नाम—से अनुमान होता है कि उपन्यास के अंत में वर्णित प्रेमाश्रम की परिणति ही इस ग्रंथ का प्रधान प्रतिपाद्य है और उक्त आश्रम के नेता ही ग्रंथ के वास्तविक नायक हैं । परंतु, यह बात ठीक नहीं है । कि ग्रंथकार की इच्छा यह जरूर रही है कि प्रेमाश्रम की परिणति ही इसका प्रधान प्रतिपाद्य हो और प्रेमशंकर ही इसके प्रधान पात्र हों ; परंतु सब मिला के उसकी इच्छा सफल नहीं हुई है । ग्रंथ का प्रतिपाद्य कुछ और ही हो गया है तथा उपन्यास का नायक भी वस्तुतः कोई और ही हो गया है । किसी-किसी समीक्षक

ने कहा है कि यह उपन्यास “कृषक जीवन की दयनीय दशाओं तथा मानवीय प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करनेवाला” और “किसानों और जमींदारों के अधिकार-युद्ध की करुण कथा का कलात्मक रूप ही है”। परंतु, विचारपूर्वक देखा जाय तो दोनों ही बातें प्रेमाश्रम में गौण हो गई हैं। मुख्य बात कुछ और ही है। देखा जाय, वह क्या है ?

प्राचीन आचार्यों ने किसी ग्रंथ या प्रकरण के तात्पर्य को समझने के छु उपाय बताए हैं—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।

अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्य-निर्णये ॥

अर्थात् (१) उपक्रम (आरंभ) और उपसंहार, (२) बार-बार किसी बात की चर्चा, (३) अपूर्वता, (४) फल या प्रयोजन, (५) अर्थवाद या किसी बात की स्तुति-निंदा और (६) उपपत्ति या मुक्ति। ये छ बातें किसी ग्रंथ या प्रकरण के तात्पर्य-निर्णय में कारण होती हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में सैकड़ों ग्रंथों का तात्पर्य इसी नियम के अनुसार निर्णय किया गया है और इस प्रकार इस नियम की प्रामाणिकता हजारों वर्षों से अनुभूत और परीक्षित हो चुकी है।

उपक्रम और उपसंहार—पुस्तक खोलते ही लखनपुर गाँव के किसान साँझ के समय बैठे बातें करते हुए दिखाई देते हैं। इनकी बातचीत का विषय शुरू में तो अँग्रेजों की प्रशंसा और अपने देशी हाकिमों और जमींदारों की निंदा होती है ; पर बाद में जमींदार के चपरासी गिरधर महाराज का आगमन होता है जो ‘जबान से सबके दोस्त और दिल से सबके दुश्मन’ हैं। वे महाशय असामियों को धी के लिए रुपए बाँटने आए हैं। वे रुपए सेर का कटेगा, जब कि बाजार-भाव दस छुटों का है और उन्हें रुपए दिए जायेंगे उनके पास या तो धी है ही नहीं या है न। बहुत कम। मनोहर रुपए

लेने से इनकार करता है और चपरासी के साथ उसका बत-बढ़ाव हो जाता है। गिरधर कहते हैं--‘मनोहर, घी तो तुम दोगे दौड़ते हुए ; पर चार बातें सुनकर। जमींदार के गाँव में गृहकर उससे हेकड़ी नहीं चल सकती। अभी कारिंदा साहब बुलायेंगे, तो रुग्ण भी दोगे, हाथ-पैर भी पड़ोगे, मैं सीधे कहता हूँ तो तेवर बदलते हो।’ इस पर मनोहर गर्म होकर कहता है--‘न कारिंदा कोई काटू है, न जमींदार कोई हौवा है। यहाँ कोई दबैल नहीं है, जब कौड़ी-कौड़ी लगान चुकाते हैं, धौं ! क्यों मर्हे।’

परंतु आगे की कथा बताती है कि कारिंदा सचमुच काटू है और जमींदार हौवा है। सारा गाँव दबैल भी है और लगान ही नहीं, लगान के कई गुना वेगार चुकाने पर भी धौंस सहना ही उनका कार्य है। सारा गाँव जमींदार की कोपाग्नि में भस्म हो जाता है ; परंतु जमींदारों-प्रथा के नेत्र होते ही, उपसंहार में फिर इसी लखनपुर गाँव में हम देखते हैं कि सारा दुःख-दर्द दूर हो गया है, लोग बड़े आराम से रहने लगे हैं। इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार में यद्यपि ‘किसानों के जीवन की सच्ची फोटो’ खींची गई है ; पर उसका उद्देश्य जमींदारी प्रथा की अनिष्टता दिखाना ही है।

लेकिन, यद्यपि ग्रंथकार आदि और अंत में लखनपुर का यह वर्णन देता है तथापि यह मूल कथा का न तो उपक्रम ही है और न उपसंहार ही। मूल कथा का जन्मस्थान बनारस है, कर्म-स्थान लखनऊ और गोरखपुर है और अन्तस्थान गंगा की धारा है। लखनपुर की मनोरंजक कहानी--उसका आदि उत्तेजक, करुण मध्य और सुखकर अन्त --सभी उसी मूल कथा के रंग को गाढ़ा कर देने के लिए हैं। इसके उत्तेजक आदि के नेता जमींदार और उसके चपरासी हैं, करुण मध्य के संचालक मनोहर, विलासी और बलराज हैं, और सुखकर अन्त के खष्टा प्रेमशंकर और मायाशंकर हैं, जिनमें से कोई भी मूल कथा के रंग को गाढ़ा या स्पष्ट कर देने के सिवाय और कोई कार्य

नहीं करता। इसी से यह स्रष्ट है कि प्रेमशंकर इस कथा के नायक नहीं हैं।

मूल कथा के नायक हैं ज्ञानशंकर, जिनके चरित्र की पृष्ठ-भूमिका में प्रभाशंकर शुरू से आखिर तक प्रकाश्य-प्रकाशक भाव से वर्तमान है। प्रभाशंकर को इस ग्रन्थ में से अगर निकाल दिया जाय तो मूल कथा बिना रीढ़ की हो जायगी; जब कि ज्ञानशंकर को निकाल देने से वह निर्जीव हो जायगी। दूसरे परिच्छेद में ही ग्रन्थकार ज्ञानशंकर के उस स्वभाव का परिचय करा देता है जो सारी कथा को अग्रसर करने के लिए नितान्त आवश्यक है। ज्ञानशंकर के हृदय में भावी उन्नति की बड़ी-बड़ी अभिलाषाएँ थीं। वह अपने परिवार को फिर समृद्धि और सम्मान के शिखर पर ले जाना चाहते थे। घोड़े और फिटन की उन्हें बड़ी आकांक्षा थी। शान से फिटन पर बैठकर निकलना चाहते थे कि हठात् लोगों की आँखें उनकी तरफ आकृष्ट हो जायँ। चैन से जीवन व्यतीत हो, यही उनका ध्येय था। आराम को अनायास ही पा जाने की आकांक्षा और दारुण अधिकार-लिप्सा ज्ञानशंकर की प्रकृतिगत विशेषता थी। यही स्वभाव कहानी का वास्तविक उपक्रम है। इस स्वभाव ने लखनपुर को विपत्ति के भाड़ में झोंक दिया, उनके हाथों श्वशुर को विष दिलाया, पतिव्रता गायत्री को नियम-भ्रष्ट किया, अपनी ही पत्नी विद्या के आत्मघात का कारण बना और ऐसा मन, वचन और कर्म-संबंधी कोई अन्यायाचरण नहीं है जिसे नहीं कराया और अन्त में उन्हें भी ले डूबा। सारी कथा अधिकार-लिप्सा—तत्रापि जमींदारी-वृत्ति—की दारुण तृष्णा का परिणाम है। जो कोई भी थोड़ा या बहुत इस काजल की कोठरी के कपक में आया है वही कलंकित हुआ है। उबर गये हैं वे जिन्होंने इसे शुरू से ही प्रणाम कर दिया है। प्रेमशंकर ऐसे ही हैं, माया-शंकर ऐसे ही हैं, विद्या ऐसी ही है। इस प्रकार मूल कथा के उपक्रम और उपक्रम से भी ग्रन्थकार की प्रविष्टा जमींदारी-प्रथा की

अनिष्टकारिता दिवाना ही जान पड़ती है। किसानों की दयनीय दशा और मानवीय प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक विश्लेषण, इसी प्रतिज्ञा के प्रतिपादन के साधन हैं।

अभ्यास—सारी पुस्तक में बार-बार घूम-फिरकर ग्रन्थकार स्मरण दिला देता है कि जमींदारी-प्रथा ही समस्त अनर्थों की जड़ है। साधारण भाव से वह समस्त अधिकारों के विरुद्ध है, पर इस ग्रंथ का विशेष प्रतिपाद्य जमींदारी-प्रजा की अनिष्टता सिद्ध करता चलता है। गायत्री और राय कमलानन्द पाठकों के सहानुभूति और आदर के पात्र हैं। गायत्री विद्या से कहती है - “तुम बाबूजी (राय कमलानन्द) पर अन्याय करती हो, आखिर रुपये कैसे वसूल होते ? निर्दयता अच्छी बात नहीं, पर इसके बिना काम ही न चले तो क्या किया जाय ? तुम्हारे जीजा कैसे सज्जन थे...लेकिन उन्हें भी असामियों पर सख्ती करनी पड़ती थी। मैंने स्वयं उन्हें असामियों को मुश्किलें कस के पिटवाते देखा था। जब कोई और उपाय न सूझता तो उनके घरों में आग लगवा देते थे और अब मुझे भी वही करना पड़ता है। उस समय मैं समझती थी कि ये व्यर्थ इतना जुल्म करते हैं। उन्हें समझाया करती थी पर जब अपने माथे पड़ गयी तो अनुभव हुआ कि ये नीच बिना मार खाये रुपये नहीं देते। घर में रुपये रखे रहते हैं, पर जब तक दो-चार लात-घूँसे न खा लें या गालियाँ न सुन लें, देने का नाम नहीं लेते। यह उनकी आदत है।” स्वयं राय कमलानन्द अपने दामाद ज्ञानशंकर से, जिसने उन्हें विष दिया था, कहते हैं—“मैं जानता हूँ कि इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। यह हमारे वर्तमान लोक-व्यवहार का दोष है। यह सारी विडंबना इसी जायदाद का फल है। इसी जायदाद के कारण हम और तुम एक दूसरे के खून के प्यासे हो रहे हैं।” फिर, इस जायदाद की वास्तविकता क्या है ?—“इसे रियासत कहना भूल है, यह निरी दलाली है। नवाबों के जमाने में किसी सूबेदार ने इस इलाके की आमदनी वसूल

करने के लिए मेरे दादा को नियुक्त किया था।***अंग्रेजों का ज आया और यह अधिकार पिताजी के हाथ से निकल गया ; हे राजविद्रोह के समय पिताजी ने तन, मन से अंग्रेजों की सहायता शांति स्थापित होने पर हमें वही पुराना अधिकार मिल गया। इस रियासत की हकीकत है। हम केवल लगान वसूल करने के रखे गए हैं। इसी दलाली के लिए हम एक दूसरे के खून से रँगते हैं, इसी दीन हत्या को हम रोब कहते हैं, इसी कारिदागि हम फूले नहीं समाते। सरकार अपना मतलब निकालने के लिए मालिक कहती है ; लेकिन जब साल में दो बार हमसे मालगु वसूल की जाती है तब हम मालिक कहाँ रहे ? यह सब धोखे टट्टी है। तुम कहोगे, यह सब कारी बकवाद है, रियासत इतनी चीज है, तो छोड़ क्यों नहीं देते ? हाँ, यही तो रोना है कि रियासत ने हमें विलासी, आलसी और अपाहिज बना दिया, हम काम के नहीं रहे। हम पालतू चिड़ियों हैं, हमारे पंख शक्ति-हीन गये हैं। हममें अब उड़ने की सामर्थ्य नहीं है। हमारी दृष्टि अपने पिंजरे के कुल्हिये और प्याली पर रहती है, हमने स्वधीनता को मोठे ढुकड़ों पर बेच दिया है।'

अर्थवाद — उपन्यास में प्रधान कथा के उन्नायक चरित्रों के जितने भी व्यक्ति हैं, जितनी भी घटनाएँ हैं, जितने भी वार्तालावे सभी इसी उद्देश्य की शिद्धि के लिए आते हैं। कभी-कभी सरकार की बदनीयती का सबूत लेकर भी उपस्थित होते हैं; पर एक भी गौण चरित्र नहीं है जो जमींदारी-प्रथा के काले चित्र और भी गाढ़ा न कर देता हो। डाक्टर प्रियनाथ चौपड़ा, बैरि इफानअली, तहसीलदार ज्वालासिंह—सभी इस कंबख्त प्रथा झपेटे में आ जाते हैं। जब कभी वे न्याय का पक्ष लेना चाहते जमींदार की मोटी रकम का वादा उनके सामने आ खड़ा होता सनातन-धर्म-सभा का भड़कीला अधिवेशन, लैयद ईजाद हुसेन

यतीमखाने का हास्यास्पद स्वँग, ग्रामीणों का सरल अभिनय और रासमंडली की शानदार सफलता—प्रत्येक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हम काले धब्बे को और भी काला कर देते हैं। ग्रंथ में जहाँ कहीं भी अनावश्यक वाग्विस्तार वा घटना-योजना हुई है वह सिर्फ ग्रंथकार के उक्त अभिमत की पुष्टि के लिए हुई है। समीक्षकों ने ठोक ही कहा है कि कथा की रोचकता की दृष्टि से सनातन-धर्म-सभा का भड़कीला अभिवेशन व्यर्थ है; परंतु इस व्यर्थ योजना का उद्देश्य भी स्पष्ट ही जमींदारी-प्रथा की कलंक-रेखा और भी स्पष्ट कर देना है। तेजशंकर और पद्मशंकर के भैरव-विश्वास और बलिदान की कहानी एकदम अनावश्यक है, फिर भी ग्रंथ में उसे जोड़ने का बहाना ग्रंथकार को यही मिला है कि मायाशंकर की अनायास संपत्ति-प्राप्ति इस दारुण बलिदान का कारण थी।

उपपत्ति—जब कभी और जहाँ कहीं भी ग्रंथकार को अवसर मिला है वहाँ अत्यंत आप्त-पात्रों के मुख से वह यह कहलाने में नहीं चूकता कि जमींदारी-प्रथा का मूलोच्छेद हुए बिना कृषकों की दीनता और अकृषकों की चरित्र-भ्रष्टता नहीं दूर हो सकती। इस बात को कहनेवाले वे होते हैं जो बड़े-बड़े ताल्लुकेदार हैं, जैसे राय कमलानंद और गायत्री, जो कानून और अर्थ-शास्त्र का ज्ञान रखते हैं, जैसे इफानअली, जो इस प्रथा के रथ-घर्घर से अपनी आत्मा का पिस जाना अनुभव कर चुके हैं, जैसे ज्वालामोहिनी, दयाशंकर और डाक्टर प्रियनाथ और अन्त में अपने सबसे निर्दोष, सबसे समृद्ध, सबसे होनहार पात्र मायाशंकर से उपसंहार कराते हुए ग्रंथकार ने मानो समस्त ग्रंथ का अभीष्ट प्रतिपाद्य कहलवा दिया है—“जमींदार इसलिए नहीं है कि प्रजा के पसीने की कमाई को भोग-विलास और विषय में उड़ाये, उनके दूटे-फूटे भोवकों के सामने अपना ऊँचा महल खड़ा करे, उसकी नग्नता को अपने रत्न-बटित वस्त्रों से अग्रमानित करे, उनकी सन्तोषमय सरलता को अपने पार्थिव वैभव से लजित करे, अपनी स्वाद-लिप्सा से उनकी क्षुधा-पीड़ा

प्रथा की अनिष्टकारिता) दिखाने के लिए है और उक्त ग्राम की दुःख-दुर्दशा को दूर करने में प्रेमशंकर के प्रेम का आदर्श बहुत कुछ सहायता करता है—क्योंकि उसी आदर्श के कारण इफानअली, ज्वालासिंह और प्रियनाथ किसानों के पक्ष में आ जाते हैं—परन्तु मूल कथानक में उस आदर्श का प्रभाव बहुत ही कम है । इसलिए जहाँ तक प्रेमाश्रम का सम्बन्ध है प्रेमचन्दजी अपने भावात्मक आदर्शों को प्रधानता नहीं दे सके हैं और अभावात्मक आदर्श प्रधान हो गये हैं । ❀
—हजारीप्रसाद द्विवेदी

(२)

‘वरदान’ के बाद ‘प्रेमाश्रम’ के दर्शन हुए । हिंदी-साहित्य के सौभाग्य से प्रेमचंदजी की लेखनी में कोई भी शिथिलता नहीं आने पाई । संसार दूसरा है, समय भी दूसरा है । ‘सेवासदन’ में चित्र कम हैं, पर साफ हैं । ‘प्रेमाश्रम’ में चित्र बहुत हैं, और उनमें से कुछ दुर्बोध भी हैं, पर चित्रणकला में कहीं भी शिथिलता नहीं आने पायी है । ‘सेवासदन’ का उद्देश्य सामाजिक है और ‘प्रेमाश्रम’ का राजनीतिक ; परन्तु दोनों देश-प्रेम के सूत्र में बँधे हैं । हिन्दी-संसार के उपन्यास-साहित्य में ‘प्रेमाश्रम’ ‘सेवासदन’ से कम नहीं है । और यदि किसी पुस्तक के प्रभाव से उसके पद का निरीक्षण हो, तो शायद ‘प्रेमाश्रम’ आधुनिक भारतीय उपन्यास-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ उतरे ।

‘प्रेमाश्रम’ की समालोचना करने के लिए हम किस पद्धति का प्रयोग करें ? बंकिमचंद्रजी के उपन्यासों की देखकर अँगरेजी-साहित्य से परिचित समालोचक तुरंत कह सकते हैं कि यह स्काट के ढर्रे के ऐतिहासिक उपन्यास हैं । रवींद्रनाथजी के उपन्यासों को आप सामाजिक

*शान्ति-निकेतन में हिन्दी समाज के सामने पढ़े गये व्याख्यान का एक अंश ।—संपादक

कह सकते हैं। आपको अँगरेजी-साहित्य में इनकी जोड़ के बहुत-से उपन्यास-लेखक मिलेंगे। जार्ज इलियट, थैकरे, या डिक्सेस इनके तथा रवींद्रनाथजी के उपन्यास-क्षेत्र में कोई भारी भेद नहीं है। परंतु प्रेमचंदजी के उपन्यास इन श्रेणियों में से किसी में नहीं आ सकते। इन उपन्यासकारों का काम यह है कि किसी समय के समाज का चित्र खींच दिया, और पात्रों से सहानुभूति दिखाकर, उनकी हँसी उड़ाकर, या उन्हें नीचा दिखाकर, पाठकों के चरित्र सुधारने का प्रयत्न किया। परंतु, इनमें भविष्य का चित्र नहीं है। कला में शायद वे प्रेमचंदजी से अधिक निपुण हों; परंतु इनमें वह उत्तेजना-शक्ति नहीं, कलना का इतना विक्रम नहीं। वे समाज के सामने एक अइना रख सकते हैं जिसमें देकर वह हँसे या कुढ़े; परंतु उस आइने के पीछे कोई चित्र नहीं। जिसकी सुंदरता तक पहुँचने के लिए उसके हृदय में उत्तेजना हो।

‘प्रेमाश्रम’ के उपन्यास-पट पर सामने तो १९२१ के भारतीय समाज का स्पष्ट चित्र है, और पछे किसी भाव भारत की लुगता है। ऐसे चित्र का क्या नामकरण हो? क्या ‘प्रेमाश्रम’ दार्शनिक उपन्यासों की श्रेणी में रखना जाय? श्रेणी-बद्ध करना समालोचकों के काम को सरल करना है, परंतु हम ऐसा करने में असमर्थ हैं। अस्तु, चाहे जो कठिनाता हो, हम बिना नामकरण किये ही इसका अवलोकन करते हैं।

उपन्यास की भूमिका प्रायः यों होती है—कोई पहाड़ी दृश्य है, प्रकृति का कोई विलक्षण आभास है। पात्रों के दर्शन हुए। कोई राजकुमार है, तो कोई उसका सखा है, या वैरी है। दैवयोग से किसी नवयौवना से भेंट हो जाती है। वह भी कोई राजकुमारी है। पर उसका पिता विवाह के लिए राजी नहीं होता। बहुत-सी कठिनाइयों के बाद—जिसमें और भी उसी मेल के पात्र अपना दर्शन देते हैं—मिलन या प्राणांत का विवरण देकर कहानी समाप्त होती है।

वहाँ सुखू चौधरी, बलराज, रबी की कमल, नौकरा और साम्यवाद को कौन पूकता है ! बड़े-बड़े राजमंदिरों, किलों और उनके तिलिस्मों के मुकाबले विचारे लखनपुर या हाजीपुर के भूषणों को कौन देखता है ! सेवासदन का प्रसंग तो शायद प्रचलित उपन्यासों के पाठक समझ सकेंगे । प्रेमाश्रम में क्या है ! भना दुखरन भगत, मनोहर, गौनवाँ, कादिर मियाँ और बेगार के दिहाती भगवों में क्या मनोरंजन !

यह प्रेमचंदजी का हा काम था कि वे दिहाती भगवों का कल्याणजनक दृश्य दिखाने में सफल हुए हैं । यों तो राय कमलानंद, गायत्री, गिद्या, ज्ञानशंकर, जवालासिंह, ड० इर्फानअली के राग-रंग नगर-निवासियों के हैं ; परंतु उनका अस्तित्व दिहात ही से है । सुखू, विलासी, मनोहर, बलराज, कादिर मियाँ—ये सब तो पूरे दिहाती ही हैं ।

चरित्र-चित्रण-कला को जाने दीजिए । शायद किसी और समय, दिहात और बेगार, मुकदमेबाजी और नौकरा के प्रश्न इतने रुचिकर न होते, पर यह उपन्यास सन् १९२१ का लिखा हुआ है और उस वर्ष के अंदर जिनना आंदोलन और राजनीतिक ज्ञान दिहातों में पहुँच गया, इतना शायद ही साधारणतः पचास वर्षों में पहुँचता ।

प्रेमाश्रम हाजीपुर का दूसरा नाम है, परंतु उपन्यास की नींव में लखनपुर है । वह बनारस के पास हो या कलकत्ते के—इससे कोई प्रयोजन नहीं । सुखू चौधरी के से पंच, कादिर मियाँ के से नरम दिहात नेता, मनोहर के से अकबड़ किसान, बलराज के से उदार-हृदय और बलिष्ठ नवयुवक भारतवर्ष के प्रत्येक गाँव में देख सकते हो । यों तो वे बहुत समय से अज्ञानावस्था का सुख भोगते चले आ रहे थे । उनके प्रभाशंकर के से जमींदार थे, जिनको अभी तक पाश्चात्य सभ्यता की हवा नहीं लगी थी ; जो सम्प्रागतों के सम्मान में अपनी इज्जत समझते थे, जिनका अपने असामयिक वे प्रति सहानुभूति

थी, जिन्हें उनके विरुद्ध अदालत जाने में संकोच होता था। ऐसे समय जमींदार भी सुखी थे और उनके किसान भी।

परंतु इधर पाश्चात्य सभ्यता का आगमन हुआ। चीजों की निरर्थक बढ़ी, सो तो ठीक ही था; मालिकों की आवश्यकताएँ भी बढ़ी। जिन जमींदारों के पुरखे बहलियों पर चढ़ते थे, घुटने के ऊपर तक धोती और चार आने सिलाई का अंगरखा या मिर्जई पहनते थे, उनकी संतानों के लिए मोटर की सवारी, लंबी रेशमी किनारे की धोती और साहसी ठाट की आवश्यकता पड़ने लगी। दिहात की उन्नति कौन करता है ! इजाफा और बेदखली का अत्याचार होना आवश्यक था।

अभी तक लखनपुर पर सिर्फ उन्हीं मनुष्यों का अत्याचार है, जो वर्षा-ऋतु के बाद गाँवों पर घावा करते हैं। अभी ज्ञानशंकर ने जमींदारी पर हाथ नहीं लगाया। इसलिए, अभी मनोहर के साथियों का वही विचार है कि अंगरेज हाकिम अच्छे होते हैं। परंतु इधर प्रभाशंकर का बुदापा, जमींदारी की आमदनी से ज्यादा खर्च, और इधर ज्ञानशंकर पर पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव और यौवन की उमंग ! ज्ञानशंकर ने हर तरफ हाथ बढ़ाना शुरू कर दिया। अब, इनके पदार्पण से उपन्यास का प्रादुर्भाव होता है।

प्रश्न होता है कि इस उपन्यास में कोई नायक-नायिका हैं या नहीं ? यदि हैं, तो कौन है और नहीं हैं, तो क्यों नहीं ?

यह तो मान ही नहीं सकते कि इस उपन्यास में नायक और नायिका हैं ही नहीं। यदि चरित्र की उज्ज्वलता पर ही ध्यान दिया जाय, तो एक ओर प्रेमशंकर और दूसरी ओर विद्या—यही पात्र लेखक के आदर्श मालूम पड़ते हैं। लखनपुर में कादिर मिर्ज़ा और एहर में राय कमलानंद, इन पात्रों की ओर भी लेखक का आदर-भाव है; परंतु हमारा विचार है कि चरित्र की उज्ज्वलता ही की कसौटी पर हम नायक तथा नायिका की परख नहीं कर सकते। देखना यह चाहिए कि किस चरित्र के चित्रण में लेखक ने अधिक परिश्रम किया

है, किस पात्र के सङ्गरे कहानी आगे बढ़ती है और किसके न होने से उसका अंत हो जाता है। बंकिम की 'दुर्गेश-नंदिनी' में जगतसिंह प्रेमी है और तिलोत्तम उसकी प्रेमिका ; परंतु आर्येशा उपन्यास की नायिका है। 'सेवासदन' में उपन्यास को सुमन का सहारा है ; यद्यपि चरित्र बिट्टलदास का ही आदरणीय है। इस उपन्यास में ज्ञानशंकर का चरित्र आदरणीय नहीं है। गायत्री भी विद्या के सामने तुच्छ मालूम पड़ती है ; परंतु हैं ये उपन्यास के नायक और नायिका। ज्ञानशंकर न होते तो कोई लखनपुर का नाम ही न सुनता। इतिहास तो विपत्तियों का ही लिखा जाता है। देखिए न, भविष्य में समृद्धिशाली, सुखमय लखनपुर की भूलक दिखाने में लेखक ने कितने कम पन्ने रंगे हैं। यदि प्रभाशंकर मालिक बने रहते तो मनोहर से क्यों भगड़ा उठता, इजाफे की क्यों तजबीज होती ! उपन्यास के लिए एक शिक्षित, उत्साही, ऐश्वर्य-लोलुप ; परंतु चरित्रहीन नायक की आवश्यकता थी। ज्ञानशंकर की सृष्टि करना लेखक के लिए आवश्यक था।

ज्ञानशंकर का चरित्र बहुत जटिल है। एक भारतीय नवयुवक पर पश्चिमी शिक्षा की नई रोशनी का प्राथमिक प्रभाव क्या पड़ता है, यह बहुत ही खूबी के साथ दिखलाया गया है। यह बात नहीं थी कि उक्त शिक्षा ने उसकी भारतीय आत्मा को ही नष्ट कर दिया हो। जब कभी किसी पवित्र आत्मा के सामने उसको ऐश्वर्य-लोलुपता का परदा हट जाता है, तो हमें उसकी अंतरात्मा के मधुर प्रकाश की भूलक देख पड़ती है ; परंतु फिर परदा गिर जाता है और ज्ञानशंकर फिर उसी ऐश्वर्य-छाया की ओर बढ़ता हुआ दिखाई देता है। ज्ञानशंकर नायक होते हुए भी अपने भाग्य का विधाता नहीं है। विधाता काल है। वह समझता है कि अपनी चतुरता के बल पर वह अपना भविष्य आनंदमय बना सकेगा ; परंतु काल उसे भी नचाता है। प्रभाशंकर की भलमनसाहत, प्रेमशंकर के त्याग, गायत्री की

लालसा, ज्वालासिंह के स्वाभिमान, राय कमलानंद की निष्काम संभाव्यता सभी से वह लाभ उठाता मालूम होता है। पर किस लिए ? पुत्र मायाशंकर के लिए ? क्या यह निश्चित है कि उसकी वृत्ति अपने पिता के पदांक का अनुसरण करेगी ? वह भविष्य जिसके लिए ज्ञानशंकर ने राय कमलानंद को जहर दिया और गायत्री को फँसाने का प्रेम-माल रचा, उसके हाथ से निकलकर प्रेमशंकर से मिल गया। राय कमलानंद की भविष्यवाणी पूर्ण हुई— धन संपत्ति तुम्हारे भाग्य में नहीं है, तुम जो चालें चलोगे, सब उलटी पड़ेगी। मनुष्य कितना दोन। कितना पर श है ! और भावी कितनी प्रबल, कितनी कठोर ! ऐश्वर्य-लोलुपता का ऐसा विशाल चित्र हिंदी-साहित्य भ्रम में शायद हो और हो।

उपन्यास के दो अंग हो सकते हैं ; एक सामाजिक, दूसरा राजनीतिक। ज्ञानशंकर दोनों को बाँधे हुए हैं। पर इन दोनों में एक-एक प्रधान है। सामाजिक अंग पर गायत्री का प्रभुत्व है और राजनीतिक अंग के विधाता प्रेमशंकर हैं।

गायत्री के चरित्र का इजाफे से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह एक बड़ी भारी जमींदारी की मालकिन अवश्य है। उसके प्रबन्ध के लिए वह ज्ञानशंकर को बुलाती है। परंतु इन बातों का उसके चरित्र से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। उसमें धर्मनिष्ठा है ; परंतु साथ ही सुख-भोग की सामग्री भी उसके पास बहुत है। सुमन सधवा भी, उसका पतन समाज की कुरुचि और उसकी दरिद्रता ने किया। गायत्री का पतन उसमें धर्म-निष्ठा होते हुए भी सांसारिक लालसा से होता है।

‘ऑल की किरकिरी’ में माया (विनोदिनी) का पतन दूसरी तरह होता है। रवींद्रनाथजी ने एक ही भाव को लेकर हर पहलू से उसे दिखाया है। माया को सामाजिक बंधनों को तोड़कर नग्न रूप में अपनी कला के बल से हमें चकित अवश्य कर

देता है, पर विचारपूर्वक देखिए, तो यह हिंदू-समाज के लिए स्वाभाविक नहीं है। गायत्री का पतन धर्म-जाल की ओट में होता है। उसे नहीं मालूम होता है कि वह किधर जा रही है और जब अकस्मात् उसके सामने पाप का अंधकारमय गढ़ा दिखाई देता है, तो फिर वह समाज को अपना मुँह नहीं दिखाती। हिंदू विधवा का पतन यों ही होना स्वाभाविक है।

जीवित उदाहरणों को किसी तीर्थ में जाकर देखिए। जिस धर्म के नाम पर व्यभिचार होता है, उसके सजीव प्रतिबिंब गायत्री और ज्ञानशंकर के चित्र में हैं। सुमन का उद्धार करना आवश्यक था, नहीं तो सेवासदन का विकास ही न होता। गायत्री के उद्धार की कोई आवश्यकता नहीं थी, इसीलिए लेखक ने उसे चार सतरों के अन्दर अनन्त विस्मृति में विलीन कर देना ही ठीक समझा। ज्ञानशंकर के लिए भी ऐसा ही अन्त होना जरूरी था।

उपन्यास का वह अंश अधिक करुणामय है, जिसमें लखनपुर की गाथा है। इस अंश के प्रधान पात्र प्रेमशंकर हैं। यदि पश्चिमी शिक्षा का एक फल ज्ञानशंकर की ऐश्वर्य-नोलुपता में है, तो दूसरा फल प्रेमशंकर की निष्काम जाति-सेवा में है। जिस समुद्र में हलाहल विष है, उसमें अमृत भी है। प्रेमशंकर उस शिक्षा के अमृतरूपी फल हैं। कुछ मित्रों का खयाल है कि प्रेमशंकर में गाँधीजी की छाया है। हम लेखक के मन की चाह लेने का साहस तो नहीं कर सका। हमें तो इस पात्र में महर्षि टागोर के चरित्र की छाया दिखाई पड़ती है।

ज्ञानशंकर चाहते हैं कि प्रेमशंकर को गाँव का आधा हिस्सा न देना पड़े। इसके लिए क्या-क्या जाल रचे, भ्रष्टा को कहीं तक भरा, बिरादरो को कहीं तक उभाड़ा ! परंतु प्रेमशंकर अमेरिका से और ही बाठ सीख आए हैं। उन्हें साम्यवादियों के मतानुसार एक आदर्श कुषक-संस्था तैयार करनी थी; गाँव की तिलांजलि "दे दी" और

जाति-सेवा में लीन हो गए। श्रद्धा छूट गई ; उसका उन्हें समय-समय पर शोक होता है। भाई से बिगाड़ हो गया, इसके लिए भी उनकी आत्मा को क्लेश होता है ; पर वह अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होते। इसीलिए लेखक ने भी भविष्य की बागडोर को उनके हाथ से नहीं जाने दिया।

प्रेमशंकर हाजोपुर को एक साम्यवादी गाँव बना देते हैं। लखनपुर का उद्धार करते हैं और मायाशंकर को आदर्श जमींदार का पद देने में सफल होते हैं। प्रेमशंकर के संसर्ग में जो पात्र आया उसको उन्होंने पवित्र कर दिया। उद्दंड मनोहर, स्वार्थी ज्ञानशंकर, और लालसामयी गायत्री इस योग्य नहीं थे ; इसलिए लेखक ने इनका अंत ही कर दिया। सुखू चौधरी वैरागी हो गया, ज्वालासिंह डिप्टी-कलकटरी छोड़कर जाति-सेवा में रत हुए, डाक्टर इफानअली ने वकालत छोड़ दी और डा. प्रियनाथ एक सर्वप्रिय डाक्टर हो गये ; यहाँ तक कि पतित दयाशंकर का भी उन्होंने अपना शुभ्रूपा से उद्धार कर दिया। प्रेमशंकर का जीवन एक प्रकार श्रद्धा के बिना अपूर्ण-सा था ; सो श्रद्धा और प्रेम का ज्वाला द्वारा सम्मिलन भी हो गया।

और भी पात्र हैं। गाँव के अत्याचारी अँगरेज नहीं हैं। मनोहर और सुखू को गौसखों तथा साहबों के अहलकारों से ही शिकायत है। ज्वालासिंह न्याय करने का प्रयत्न करते हैं ; परंतु धोखा खाते हैं, और उन्हें इस्तीफा देना पड़ता है। गौसखों का भी वही अंत हुआ जो अत्याचारी जिलेदारों का होता है। मनोहर की उद्दंडता का भी फल उसे मिल गया। सुखू को मनोहर के खेतों की बड़ी लालसा थी ; परंतु गाँव पर विपत्ति आने पर वह उनका नेता हो गया। कादिर मियाँ गाँव के सच्चे सेवक बने रहे। दुखरन भगत पर विपत्ति का दूसरा ही असर हुआ। निराशा ने उसके हृदय में जन्म भर की संचित शालग्राम के प्रति श्रद्धा उखाड़कर फेंक दी। बलराज गाँव के भविष्य का युवक है। उसमें जो स्वतंत्रता है, वह किसी में नहीं ; क्योंकि उसके पास

जो परचा आता है उसमें लिखा है कि रूस में किसानों का राज्य है। यदि परिस्थितियाँ प्रतिकूल हुई, तो वह भविष्य का बोलशेविक होगा। मनोहर की पतिव्रता गृहिणी विलासी इनके भगड़ों को शांत करने का प्रयत्न करती रहती है ; पर गाँव में विप्लव उसी के द्वारा होता है। न उस गाँव की द्रौपदी पर गौसखों का अत्याचार होता, न विद्वेष की आग इतनी भड़कती ! इस विप्लव के शांत होने पर जो बचते हैं, वे उपसंहार में भावी गवर्नर हिज एक्सलेंसी गुरुदत्त राय चौधरी और भावी जमींदार मायाशंकर के समय में रामराज्य का सुख-भोग करते हुए दर्शन देते हैं। उपन्यास-लेखक के साथ हम भी कहते हैं—“तथास्तु”।

कथा-प्रसंग के परे और भी पात्र हैं। राय कमलानंद का चित्र विशेषकर भावमय है। मालूम नहीं कि यह उपन्यास-लेखक के मस्तिष्क से निकले हैं या इनकी जोड़ के इस संसार में कोई हैं भी। इनका जीवन सांसारिक विलास में मग्न है। पर इससे इनके पौरुष में कोई अंतर नहीं आता। इनकी योग-क्रियाएँ इसीलिए थीं कि जीवन की चरम सीमा तक सुख भोग कर सकें। इनका आत्मबल इतना प्रखर था कि ज्ञानशंकर भी उनके सामने नहीं ठहर सका। परंतु जीवन का आदर्श त्रुटियों से भरा था। ज्ञानशंकर की कुटिलता ने इन्हें भी सच्चा मार्ग दिखा दिया, जिसकी भूलक हमें उपन्यास के अंत में देखने को मिलती है।

विद्या और श्रद्धा के चित्र उल्लेखनीय हैं। दोनों साधारण हिंदू-रमणियाँ हैं। विद्या के चरित्र में कोई विशेषता नहीं है ; क्योंकि उसके सामने कोई जटिल समस्या ही कभी नहीं आयी और जब उसपर कष्ट पड़ता है, तो लेखक उसे बर्दाश्त करने योग्य न समझकर उसका अंत ही कर देता है। कुटिल ज्ञानशंकर की पतिव्रता पत्नी का यही अंत होना था। श्रद्धा के सामने पहले ही से धर्म और प्रेम की समस्या मौजूद है पर प्रेमशंकर के चरित्र का अंत में उसपर इतना प्रभाव

पड़ा कि धर्म को शृंखलाएँ ढोली पड़ गयीं। लेखक ने भद्रा को प्रेम से मिला र दानों का जीवन सार्थक कर दिया।

अब लेखक शैली पर विचार कीजिये। प्रेमचंदजी की यह पुरानी आदत है कि भाषा हिंदी हो रहती है; पर शब्दों का रूप पात्रानुसार बदलता रहता है। 'मेवासदन' में मुसलमानों की दलील मलीम उर्दू में है और अंग्रेजों पढ़े-लिखे पात्रों की भाषा में अंग्रेजी की खिचड़ी है 'प्रेमाश्रम' में देहात पात्र भी हैं, इसलिए उनके काम में आनेवाले शब्द भी वैसे ही हैं। रिश्वत, सरबस, मुदा, समकत, मूरख, सहूर, अचरन कागद, ये सब दिहातियों के ही शब्द हैं। भाषा सिर्क करतार का बिगड़ गया है। वह ठेठ गंवारू है। और जितने दिहाती हैं, उनकी भाषा में पूर्णतः प्रकार के शब्द आने में जातिव्यतिरिक्त बढ़ ही गया है। विशुद्ध भाषा के पक्षपाती चाहे नाक-भौं मिकोड़े; परंतु हमारी समझ में इससे कोई हर्ज नहीं, यदि पात्रों की भाषा में उनके व्यवहार में आनेवाले ही शब्द रखे जायँ। व्याकरण की ांग तांड़ने के हम भी विरुद्ध हैं। हम यह नहीं चाहते कि बंगाली पात्र की भाषा में लिंग की गलतियाँ की जायँ और अंग्रेज की ज़बान में तवर्ग के शब्द हीन निकलें; पर यदि पात्रानुसार दो-चार शब्दों के गढ़ देने से उसका अस्तित्व प्रकट या सजीव किया जा सके, तो कोई हानि नहीं। ऐसी दशा में लेखक भाषा को बिगाड़ने का दोषी नहीं ठहराया जा सकता। इन शब्दों ने दिहातियों के वार्त्तालाप को स्वाभाविक बना दिया है; उसमें जान डाल दी है। इनसे भाषा को कोई क्षति नहीं पहुँचती।

प्रेमचंदजी ने अपनी लेख-शैली में "इनवर्टेड कामाज" का प्रयोग न करके प्राचीन परिपाटी का ही अनुसरण किया है। पुरानी हिंदी में इनवर्टेड कामाज नहीं थे। इधर जब से अंग्रेजी का हिंदी पर प्रभाव पड़ा, फुलस्टाय को छोड़कर और सभी चिह्नों ने हिंदी पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। ये आगंतुक-इनवर्टेड कामाज-हिंदी में बहुत खलते थे। लेखक ने इनका बहिष्कार ही कर दिया है। वार्त्तालाप में पात्र का नाम

और उसके वाक्य—रम काम निबल गया । कोई आंतरिक विचार हुए या कोई लंघी बातचीत हुई, तो इसकी भी आवश्यकता नहीं । लेखक और पात्र दोनों एक ही तरंग में एक दूसरे से लड़ते हुए बहते चले जाते हैं ।

अब मनोविकार के चित्र तथा विचित्र उरमाएँ देखिये । वे उपन्यास-धारा की तरंगों पर कमल के फूलों या लेखक के अर्पण किये होपकों की तरह दर्शन देते चले जाते हैं । 'केवासदन' लेखक के खजाने का खाली नहीं कर सका । 'प्रेमभ्रम' की उक्तियाँ वैसी ही नवीन और हृदयग्राही हैं, जैसी कि पहले उपन्यास की ।

मनोविकार-चित्रण ने लेखक की बात रख ली है । "मानव-चरित्र न बिलकुल श्यामल होता है न श्वेत । उसमें दोनों रंगों का विचित्र संमिश्रण होता है ।" प्रेमशंकर का अपनी जाति-सेवा में भ्रातृ-विक्षेप की भूलक मालूम पड़ती है । ज्ञानशंकर को अंत में अपनी स्वार्थपरता का अनुभव होता है । राय कमलानंद को सार्वजनिक आनंद में रत रहने का फल भोगना पड़ना है । केवल विद्या और कादर मिश्रों के चरित्र निर्मल हैं ; और यह शायद इतना ही है कि लेखक ने उनपर अधिक प्रकाश नहीं डाला । इस चित्रण-कौशल का यह फल है कि किसी पात्र से हम दृष्टा नहीं करते और न किसी को आदर्श ही मानते हैं ।

— कालिदास कपूर

रंगभूमि

अन्वाम का उद्देश्य साफ प्रकट है—

तू रंगभूमि में आया, दिखलाने अपनी मर्मा,
 | क्यों घरम-नीति को तोड़े ? भई क्यों रन से मुँह मोड़े ?

प्रेमचंदजी बार बार आने नायक सूरदाम के मुँह से जीवन के इस महत्त्वमय रहस्य का उल्लेख करते हैं। परन्तु, इसके परे एक और समस्या है, जो संसार-मन्त्र में पारस्परिक कलह और अशांत का कारण हो रही है। यह है प्रचलित पुत्रनाश-प्रणाली का दिहात के नैतिक जीवन पर और दोनों के पारस्परिक विरोध में दिहात का जीवन-विनाश और अनर्थ, रोग और दुर्न्याय का प्रचार।

योरप में यह विरोध समाप्त हो चुका। वहाँ पुत्रलोपर-प्रणाली के सामने दिहातों जीवन का प्रायः अर्थ ही हुआ है। अधर्म, रोग और दुर्न्याय के परिणामों से योरपीय समाज को बचाने के लिए वहाँ का समस्त चिकित्सा-शास्त्र; ईश ईश्वर तथा सभ्यवाद के सिद्धांत आने-आने ढंग से प्रयत्न कर रहे हैं। भारतवर्ष में इस विरोध का प्रथम-

‘जाकसले हाल’ में एक ऐसे व्यावसायिक संगठन का सुन-सुन्न देखा है जो धर्म और अर्थ—दोनों के अनुकूल है। परंतु ऐसा संगठन कवि के स्वप्न-संसार में ही है; उसके इस मृत्युकोट में कहीं दर्शन नहीं हुए है।

यह समस्या क्योंकर हल हो ? उगन्याम-लेखक का यह काम नहीं है। उसने इसपर प्रकाश डाल दिया, यही बहुत है। हाँ समाज-सुधारकों तथा संवत्तशास्त्र-वेत्ताओं का यह अर्थ व काम है। ‘प्रेमाश्रम’ में जिन आदर्शों प्रथम की प्रेमचन्दजी ने झलक दिलवाई है वह यथेष्ट नहीं है। शिक्षा, वाणिज्य और व्यवसाय की उन्नति करना देश की समृद्धि के लिए आवश्यक है। जिन पुत्रजीवर-प्रथा का पश्चिम में चलन है उसमें देश समृद्धिशाली अवश्य होते हैं; परन्तु वास्तविक सुख का ह्रास होता है। जापान में इन वास्तविक प्रथा का चलन परिष्कार लोग भुगत रहे हैं। वहाँ का सामाजिक संगठन प्रायः ऐसा ही था जैसा यहाँ है। इस प्रथा ने सामाजिक दण्डों को तोड़ डाला है। निम्न के कारण वहाँ सर्वत्र अशांति का मास्र उब है। क्या धर्म और अर्थ, ईश्वर और मनु के बीच समझौते की सम्भावना नहीं है ?

जिस चरन्दा-प्रणु ली का महारमा गोधी प्रचार कर रहे थे, उनके हृदय में इस अशांति की औपधि है। यदि इस प्रचार के साथ राजनीतिक विप्लव का सामञ्जस्य न होता तो शायद गोधीजी को चरन्दा-विषयक प्रस्तावना पर संवत्तशास्त्र-वेत्ताओं का ध्यान आकृष्ट होता और जनता इस प्रस्ताव के वास्तविक आशय को समझकर दिहास में कावे और चरले चलाकर दिहातियों को कल-कारम्बानों की हवा

* There the common sense of most shall

Hold a fretful realm in awe ;

And the kindly earth shall slumber, leapt

In universal law.

से दूर रखनी। यदि सरकार और समाज दोनों चाहें तो इस समस्या को हल करने का यों प्रयत्न कर सकते हैं—कारखानों के बनाने को तब तक आज्ञा न दी जाय जब तक भजदूरी को सपत्नितार बनाने का कारखानेवाले प्रबन्ध न कर सकें। बाहर से आप हृद भात पर इतना कर लगाया जाय और दहातियों के अपने घर के बने हुए कपड़ों को इतनी सहायता दी जाय कि ये कपड़े कारखानों के कपड़ों से सस्ते पड़ें।

दूसरी समस्या जिमहा सम्बन्ध मनोविज्ञान से है, इसे विनय और सोफी के चरित्र-चित्रण में मिलनी है। मनुष्य और स्त्री को प्रेमभावना में क्या अन्तर है? क्या यह सत्य है कि मनुष्य का प्रेमाशमना-मार्ग आदर्श प्रेम के आकाश में लालसा के पानाल तक है; और स्त्री का उसमें उभटा, लालसा के पानाल से आदर्श प्रेम के आकाश तक। यदि ऐसा है तो चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता का अंश कवश्य है। विनय में जो कुछ देश-सेवा का अंकुर है वह उसकी माना जाहनी की कुल से। शोक के प्रेमपाश में फँस कर उसमें अभर्षता आ जाती है। विनय आदर्श प्रेम में गिर कर इन्द्रिय-भोग को लालसा में अपनी आत्मा को डालि पहुँचाना है। सोफी का दूसरा हाल है। वह आदर्शवादिनी है। यों तो वह अवला है, परन्तु विनय के प्रति अंकुरित प्रेम उसे कर्मवीरांगना बना देता है। उग्र्याम के दूसरे भाग में उसी का राज्य है।

‘प्रेमाश्रम’ और ‘सेवामदन’ में गायत्री और सुमन के चरित्र में यह पड़ा है कि गायत्री आदर्श भक्ति के आकाश से गिर कर लालसा की कंदरा में गिरती है। पर सुमन इसे पार कर सेवा-मार्ग के आदर्श तक पहुँच जाती है। परिस्थितियों के भेद चरित्रों को रंग-बिरंगे भावों में प्रदर्शित करते हैं। परन्तु इतना अनुमान किया जा सकता कि प्रेमचन्दजी ने भारतीय स्वत्व तथा मनुष्यत्व का वास्तविक चित्र डीका है। मनुष्य लालसा और लोभ के बश तो कर्मबन्ध रहते हैं।

पर आदर्श उन्हें अकर्मण्य और आलसी ही कर देता है । स्त्रियाँ भी लालसा और लोभ के पाश में फँस जाती हैं, पर अपना धर्म नहीं खोती और मनुष्य को भौति काठिन समस्या आ रङ्गने पर अकर्मण्य नहीं हो जाती ।

प्रेमचन्दजी दिहाती जीवन का करुणामय चित्र खींचने में दक्ष हैं । यदि उनके तीनों उपन्यासों—‘सेवामदन’, ‘प्रेमाश्रम’ और ‘रंगभूमि’—पर दृष्ट डाली जाय तो हम यह देख सकते हैं कि प्रेमचन्दजी का प्रेम शहर से दिहात की ओर झुकता जा रहा है । ‘सेवामदन’ काशी की गंदी गलियों और दालमंडी की दूषित वायु में घिरा हुआ है । कहीं श्रान्त में गंगा पार कर हमें सेवामदन के नैसर्गिक ग्रामीण जीवन की झलक मिलती है ।

‘प्रेमाश्रम’ में प्रेमचन्दजी ने ‘सेवामदन’ की भौति एक आदर्श ग्राम की सृष्टि की है । पर साथ ही वास्तविक लखनपुर की भी पूरी व्याख्या की है । ‘रंगभूमि’ का पाँडेपुर ‘प्रेमाश्रम’ का लखनपुर है । साधारणतः बड़ी लोभ और पारस्परिक कलह, पर कष्ट के समय निःस्वार्थ सेवा और पारस्परिक सहायताभूति । ‘प्रेमाश्रम’ में यह हृदय-विदारक का प्रयत्न किया है कि इस भारतीय ग्राम को हम न्योकर जमींदार-द्वारा आदर्श बना सकते हैं ; और ‘रंगभूमि’ में वह हृदय-विदारक दृश्य है जिसका अभिनय समस्त संसार में हो रहा है । कल और कारखाने किस प्रकार इस ग्राम का विनाश करने हैं और उसके साथ ही अधर्म का प्रचार बढ़ाते हैं, इसको सूरदाम ने कारखाने बनने की प्रस्तावना पर पहले से ही सूचना दे दी थी—“सरकार बहुत ठीक कहते हैं, मुड़ल्ले की रौनक जरूर बढ़ जायगी, गोजगारी लोगों को फायदा भी खूब होगा ; लेकिन जहाँ यह रौनक बढ़ेगी, वहाँ ताड़ी-शराब का भी तो प्रचार बढ़ जायगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जायँगी, परदेशी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे, कितना अधर्म होगा, दिहात के किसान अपना काम छोड़कर मजूरी के लालच से बौड़ेंगे,

यहाँ बुगो-बुरी बातें सीखेंगे और अपने बुरे आनरण अपने गाँवों में फैलायेंगे ; दिहातों की लड़कियाँ-बहुएँ मजूरी करने आयेंगी, और यहाँ पैसे के लोभ में अपना धरम बिगाड़ेंगी। यही रौनक शहरों में है। वही रौनक यहाँ हो जायगी।” बजरंगी और जगधर के मकान मिट गए, सूरदास को भावही के लिए सत्याग्रह करना पड़ा। परंतु यह दृश्य उतने कष्टमय नहीं है जितना कि वह जिसमें दिहात के नवयुवक घिसू और विद्याधर का नैतिक पतन होता है। ठीक ही है “धन का देवता बिना आत्मा का बलिदान पाए प्रसन्न नहीं होता”। ‘प्रेमाश्रम’ में वास्तविक ग्राम और आदर्श ग्राम की तुलना की गई है। इस उपन्यास पर दिहात के जीवन का ही साम्राज्य है। नायक और नायिकायें शहर के हैं, पर वे दिहात ही पर अपनी जीविका के लिए निर्भर हैं। ‘रंगभूमि’ में दिहाती जीवन के विनाश का करुणामय दृश्य है। विस्तार के कारण इसका क्षेत्र काशा में उदयपुर तक है। बहुत-से पात्र हैं—देशी और विदेशी, दिहाती और शहरवासी—पर नायक सूरदास है और उसके ही चरित्र में दिहात के जीवन का चित्र है। दिहातियों की सरलता, उनकी धर्मभीरुता, उनका साहस, उनकी सहनशक्ति, उनकी अपरिवर्तनमय प्रकृति, उनके घरेलू झगड़े, उनका संगठन और उनकी नेतृत्व-शक्ति—इन सब रंगों का सूरदास के चित्र में कौशलपूर्ण संमिश्रण है।

‘सेवासदन’ में दिहात के उदय, ‘प्रेमाश्रम’ में उसके मध्याह्न और ‘रंगभूमि’ में उसके अस्त होने का दृश्य है। प्रथम उपन्यास में आशा और निराशा दोनों का मेल, और तामरे में अंधकार और निराशा। हमारे जीवन-चक्र में—और उपन्यास-लेखक के जीवन-चक्र में भी—इसी प्रकार भावों का परिवर्तन होता रहता है। यदि यह सच है तो इन उपन्यासों का देखकर ही हम बता सकते हैं कि कौन किसके पश्चात् लिखे गए हैं। ‘रंगभूमि’ में करुणा की पराकाष्ठा है। जहाँ कहीं हास्य है वह भी करुण-रस की शोभा बढ़ाने के लिए।

उदाहरणार्थ विनय को माता का पत्र मिला। आशय यह था कि तुम कर्तव्यविमुख हो गए हो, मैं तुम्हारा मुख नहीं देखना चाहती। विनय को अपनी माता की आदर्शवादिता पर गर्व हुआ, मन में कहने लगा, “देवी ! मैं स्वयं अपने को तुम्हारा पुत्र कहते हुए लजित हूँ। ...संभव है अंतिम समय तुम्हारा पवित्र आशीर्वाद पा जाऊँ।” विनय ने बाहर की तरफ देखा : सूर्यदेव किमी लजित प्राणी की भाँति अपना कांतिहीन मुख पर्वतों की आड़ में छिपा चुके थे। नायकराम पल्लवी मारे भाँग घोट रहे थे। यह काम वह से-कों से नहीं लेते थे। कहते कि यह भी एक विद्या है, कोई हल्दी-मसाला तो है नहीं कि जो चाहे पीस दे। इसमें बुद्धि खर्च करनी पड़ती है, तब बूटी बनती है।”

प्रेमचंदजी के चरित्र-चित्रण में एक दोष है, जिसका उल्लेख करना आवश्यक है। आपको जब पात्रों की आवश्यकता नहीं रहती, जब उनमें रग भरते-भरते आप थक जाते हैं तब झट उनका गला घोट डालते हैं। ‘सेवासदन’ में कृष्णचंद्र नदी में डूब कर आत्म-हत्या करता है, ‘प्रेमाश्रम’ में गायत्री पहाड़ से गिरकर जान देती है, और ‘रगभूमि’ में विनय पिस्तौल-द्वारा अपनी हत्या करता है।

हमें यह ढग दोषपूर्ण मालूम होता है। कुछ दार्शनिकों ने आत्महत्या की सिफारिश की है। कवि भी कभी-कभी दुःख से छुटकारा पाने के लिये अपने पात्रों को आत्महत्या की शरण देते हैं। पर आत्महत्या का नीति तथा धर्मशास्त्र दोनों में निषेध है और धर्म तथा नीति दोनों को अवहेलना करना न कवि के लिए उचित है, न उपन्यास-लेखक के लिए। उपन्यास-लेखक को भी कवि की भाँति अपनी कला में निरंकुशता का अधिकार प्राप्त है। पर इतना नहीं कि जिस कर्म का शास्त्र तथा नीति में निषेध हो उसका लेखक-द्वारा सम्मान किया जाय। जहाँ तक हमारा अनुमान है, प्राचीन ग्रंथकारों ने इस प्रकार शास्त्रीय आज्ञाओं की अवहेलना नहीं की है।

परंतु इतना होते हुए भी प्रेमचंदजी के उपन्यासों का महत्त्व कम

नहीं होता। हिंदी के दुर्भाग्य से इनका अनुवाद अभी तक किसी पाश्चात्य भाषा में नहीं हुआ है। यदि कभी हो, और योरप के विद्वान् प्रेमचंद की रवींद्रनाथ ठाकुर और टॉल्स्टॉय से तुलना करें तब हम भी समझने लगेंगे कि ये उपन्यास भी कुछ महत्त्व रखते हैं। प्रेमचंद का यथासमय भारतीय साहित्य में वही सम्मान होगा जो डिक्सेस और टॉल्स्टॉय को योरपीय साहित्य में प्राप्त है। भारत का हृदय बलकत्ते की गलियों में नहीं है, न वह शिक्षित जनों की अट्टालिकाओं में है। उसका हृदय दिहात में है। किसानों के टूटे-फूटे भोपड़ों में है। धरे-भरे खेतों को देखकर उसे शांति मिलती है। है। अनावृष्टि से वह सूख जाता है। उस हृदय का मार्मिक चित्र जिसने खींचा है वह देश भर का धन्यवादपात्र है। अभी भारतीय किसानों में शिक्षा का अभाव है। अभी उन्हें नहीं मालूम है कि उन्हीं के समान किस सरल-प्रकृति तथा अस्वस्थ व्यक्ति ने शारीरिक और मानसिक वेदनाएँ भेलते हुए उनके दुःखों और आशाओं की कथा कही है। जब वे शिक्षित हो जायेंगे, जब उनकी आँखें खुलेंगी, और अपने पूर्वजों का चित्र जब वे इन उपन्यासों में देखेंगे, तब इनके विधाता की पूजा होगी। हाँ, अभी कुछ समय तक नहीं।

—कालिदास कपूर

रंगभूमि से कायाकल्प तक

रंगभूमि के नाम में 'वैनिटी फेअर' से कुछ समानता है; पर प्रेमचंदजी की रंगभूमि अहं का मेरा नहीं, यह वास्तविक रंगभूमि है जिसमें जीवन का एक महान् नाटक खेला गया है। वह रंगभूमि है जिसका बिलाड़ो बार-बार कहता है, खेन को खेन की भाँति खेलो। जिसने खेन को खेन की भाँति नहीं खेला, उसी को जक उठानी पड़ी। कुँवर महेंद्रसिंह वैसा नहीं खेन सके, तभी वे मूर्ति को तोड़ने गये और उस जड़ मूर्ति से दबकर भर गये। इस रंगभूमि में पात्रों की रूढ़ि रूढ़ भरकर आये हो—वैसा ही पार्ट अदा करो, और पार्ट अदा करने के बाद फिर वही समत्व और अपनत्व प्राप्त कर लो। सूरदास इसका पक्का बिलाड़ो है। यह सूरदास प्रेमचंद की नयी सृष्टि है। और जैसा प्रेमचंदजी ने लिखा है सूरदास का “बीजांकुर हमें एक अंधे भिखारी से मिला जो हमारे गाँव में रहता था।” इस अंधे भिखारी में लेखक ने जो शक्ति संयोजित कर दी, वह अभूतपूर्व है।

उनके प्रयोगात्मक चरित्रों का रंगभूमि में अभाव नहीं हुआ। जहाँ युवक है, वहाँ प्रयोगों का अभाव कहाँ ? यहाँ विनय है, पर प्रेमाश्रम में जहाँ प्रेमशंकर के रूप में वह श्रद्धा का पति था, यहाँ विनय-रूप में श्रद्धा-जैसी व्रतशील जाह्नवी माता का वह पुत्र है। श्रद्धा एक संयम के घेरे से घिरकर अपने अंदर ही रो रही थी। जाह्नवी में जैसे मातृत्व का उफान है। वह अपने अणु-अणु विकसित देखना चाहती है। उसके उत्साह और अभिव्यक्ति के भाव में श्रद्धा के अटल व्रत

को हृदयता उपस्थित है। पर उसका क्षेत्र समाज और उसकी मर्यादाएँ नहीं। उसकी संकल्पशीलता पुत्र को अधिकाधिक विसर्जित कर देने के ही लिए है, और उसका यह रूप भी उसी समय प्रकट होता है जब विनय अपना वितरण—त्याग और परोपकार जिसका दूसरा नाम है, रोककर संकोच में पड़ जाता है; स्वार्थ-भोग के नाम से जिसे पुकारते हैं, उसका शिकार हो जाता है। जाह्नवी पुत्र को खो देने को तैयार है, पर उसे कायर बनते, कर्तव्य से च्युत होते नहीं देख सकती। पर प्रेम भी कोई चीज होती है; उसे अलग अपने पैरों पर खड़े होने सबसे पहले प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' में ही देखा है। 'सेवासदन' में सदन और सुमन का प्रेम प्रेम नहीं हो पाया, रमिकता ही बन पाया—वेश्या से संबंध के आकर्षण में उसका पर्यवसान हो गया। 'प्रेमाश्रम' में मानव का मानव के प्रति जो प्रेम है, वह प्रेम नाम से तो पुकारा जाता है; पर वह सहृदयता का रूपान्तर—कुछ आदर रूपमात्र है—वह वह प्रेम नहीं, जहाँ कर्तव्य, ज्ञान, चेष्टा अनंत विराम ग्रहण करती हैं, जहाँ न पाप न पुण्य—एक अद्भुत ही लोक है जो, जहाँ मानव को अपना मानव विस्मृत हो जाता है और एक दिव्य न्यापारमात्र रह जाता है। जहाँ इस प्रेम का कुछ आभास दिया गया है, वहाँ छल के आधार पर वह खड़ा है—अतः वह इस नाम का अनर्थ करनेवाला है। 'प्रेमाश्रम' में वैवाहिक बंधन का आदर न देने का एक भाव तो है, ज्ञानशंकर विद्या की मृत्यु पर उसका दाह तक नहीं करते, पर स्वतंत्रप्रेम का रूप वहाँ नहीं दे सके। गाँव की विधवा से उनका जो लगाव हुआ, उसमें हृदय का पुट मिजा तो मही, पर अन्य स्वार्थों के समारोह में वह प्रबल हो ही न सका—'रंगभूमि' में ऐसी बात नहीं।

यहाँ पदा-लिखा युवक विनय है, और है स्वतंत्र वातावरण में पली सोफी। दोनों में पहले सहानुभूति, फिर प्रेम बढ़ जाता है। सोफी ईसाई है, विनय हिंदू और जाह्नवी-जैसी मा का पुत्र, बचते-

बचते भी दोनों एक दूसरे पर समर्पित हो जाते हैं। सोफो विनय के लिये वह सब कुछ करती है जो कर सकती है। मिस्टर क्लार्क से संबंध कर लेने के दिक्कावे को, आत्म-दनन करती हुई स्वीकार करती है। मिसेज क्लार्क नाम से विख्यात होती है। और यह सब लीला विनय के लिये होती है। यह विजातीय प्रेम-संबंध, प्रेम कहलानेवाला प्रेम 'रंगभूमि' में आया है—इसमें वह उन्माद, वह मधुर कलरना वह मिठास, वह मान, वह त्याग, वह आत्मदान—वह सब कुछ है, जो प्रेम में हो सकता है—पर यहाँ प्रेम रूप-मात्र के लिये नहीं उनके साथ गुण के लिये भी है। वह प्रेम जहाँ प्रेम के लिये है, वहाँ शक्ति के लिये भी है। वह शक्ति तभी तक है जब तक कि दोनों मिलते नहीं; अभोग्य प्रेम ही शक्ति है। भोग-क्षेत्र में आने ही वह कमजोरी का रूप ग्रहण करने लगता है। और आखिर विनय को अपना बलिदान देकर उस कमजोरी का परिहार—प्रायश्चित्त नहीं—करना पड़ता है।

विनय का कार्यक्षेत्र 'मवा' है, जो उसे राजनीति के क्षेत्र में ले जाता है। इसके सहारे राज्यों की समस्या उठ खड़ी होती है। 'प्रेमाश्रम' के कार्यकर्त्ता गाँव में रह जाते हैं; पर रंगभूमि के कार्यकर्त्ता राज्यों को और भी बढ़ जाते हैं; पर जहाँ पर विनय का बलिदान होता है, वह स्थान एक और नई बात से बना है। वह है 'फैक्टरी' के लिए जमीन की खरीद—फैक्टरी खोलना अच्छा या अपना पैतृक घर छोड़ देना, उसे बेच देना। मानो लेखक ने भारत को अवस्था का व्यंग्य सामने रख दिया है। औद्योगिकता हमारे घरों को खरीदे ले रही है, जो हमारे थे, वे हमारे नहीं रहे। उसको इस वाद (इज्म) से बचाओ। इस रक्षा के लिए ही खड़ा होता है 'सूरदास'। लेखक ने सूरदास और महेन्द्र को प्रतिद्वंद्वी कर दिया है। कुँवर महेन्द्र उस भिखारी से हर जगह हार खाते हैं। पर सूरदास और महेन्द्र में कोई मौलिक विरोध नहीं। यह महेन्द्र की नितिज्ञा, अहंभावना है जो उस विरोध को घातक रूप दे देती है; पर मौलिक विरोध सूरदास के सच्चे

सहायक विनय और स्वयं सूरदास में है । विनय की मृत्यु से मानो प्रेमचंदजी 'रंगभूमि' में उस सूत्र को तिरोहित कर देते हैं जो 'सेवासदन' में उठा, 'प्रेमाश्रम' में स्निग्ध बना । उनका अभिप्राय सेवा को असफल सिद्ध करना नहीं ; वरन् 'सेवा' की पूर्ण सफलता ही आत्मदान है, ऐसा दिखाने हुए यह दिखाना है कि 'सत्य' भी शक्ति रखता है । किसी सत्य का आग्रह बड़ी-बड़ी सेनाओं को स्तब्ध कर सकता है । सत्याग्रह में अंतर गति भले ही हो, बाहरी नहीं । बाहरी गति को अंतर पर बलिदान होने की बात माननी पड़ेगी। विनय में बाहरी गति ही है, तभी उसका सूरदास से मौलिक विरोध है । और तभी उसके सामने उसका लय होता है । गति या तो गति है अन्यथा मृत्यु है ।

तो 'रंगभूमि' में गति-मात्र को नहीं माना गया, यहाँ 'सत्य' को पहचानने का यत्न है । वह सत्य अधिकार का सत्य है, और अधिकार वह अधिकार है जो अपना अस्तित्व दूसरों के आक्रमण से भी रखना चाहता है, जिसमें अर्थ की अपेक्षा भाव, कानून की अपेक्षा नय की प्रबलता है, और 'सत्य' क्योंकि 'सत्य' है, यदि वह कुछ भी न करे, केवल अपने लिए दृढ़ रहे, तो मसार का बल, संपर्प, कोलाहल सब स्वयं ही अपना घात कर वहाँ भस्ममात् हो जायगा । गति की तरंगें चढ़ेंगी और गिरेंगी, क्लृप्त और मलिनता उसकी ओर अपने चंगुल फैलायेंगी ; पर उसके तेज के नाचे दबकर मर जायेंगी । लिप्सा ज्यों-ज्यों उसकी संपात्त का दृग्ग करेगी, उसका तेज उद्दीप्त होगा, और वह हीन-सी बनी धर्म और आचार का दिवाला पीट कर, उससे अलग होकर अपने मार्ग-ग्रहण करेगी—पर सत्य की दीप्ति लज्जन्त-प्रोज्ज्वल प्रोद्भासित हो होगी । सूर के द्वारा वही सत्य ग्रहण हुआ है । विनय का कुटुम्ब गति के लिए, महेन्द्र का कुटुम्ब उसी सत्य के सहजान क्लृप्त के लिए, सेवकों का कुटुम्ब लिप्सा के लिए एक आवरण है ।

इस उपन्यास में लेखक हिंदू-मुसलमान के साथ ईसाइयों को भी ले आया है। गाँव है, पर वह मिल के झुमेले में फँसकर अपनी उस ग्रामीणता के निकट नहीं रहा है, वह कस्बा डो चला है, धर्म के नाम पर जीनेवाली जाहूवी है और मरनेवाली मिसेज सेवक। मानव-धर्म और प्रेम का रूख सोफी ने निश्चित किया है। गृह को लेखक ने स्पर्श भर किया है, साधारणतः घर बाहर के लिए लुटा-लुटा फिरा है - और उसी विनय में लेखक ने सार्थकता पायी है। अध्यात्म ने 'सत्य' के लिए सूरदाम का आश्रय लिया है और लेखक इस जीवन के संघर्ष के साथ जिस अंतरतेज को देखता है, उसे उसने उस सत्य में ही मिला दिया है। अतः, पृथक् आध्यात्मिक निरूपण की आवश्यकता नहीं पड़ी—किन्तु, लेखक इस निष्क्रिय सत्य के साथ जो 'अधिकार' में लगा हुआ है अधिक काल तक सतोष नहीं कर सकता। यह 'अधिकार' क्या यों ही 'अधिकार' के लिए है! सूर जो अपनी भाँपड़ी के लिये अड़ा, उसमें सचाई है और प्रबल सचाई है—वह न होती तो टिकना कठिन था - वह इस अधिकार की सचाई में यदि जितना विराग जितना खिलाड़ी सूरदाम में है, और उतना ही राग जितना उसमें है न। मिला तो क्या होगा—इस अधिकार को सत्य-रूप देकर हिंदू-मुसलमान भी तो अलग होते चले जा रहे हैं—अलग होते क्यों चले जा रहे हैं, उन्हें प्रेम की धुरी पर घूमकर साथ आना पड़ेगा और अधिकार-सत्य के लिए वर्म-सत्य मानना पड़ेगा। हमारा अधिकार केवल हमारे कर्म पर है—यह कर्मभूमि है। यहाँ सूर की आवश्यकता नहीं, वह तो अपनी परिसमाप्ति पा सका, यहाँ विनय जैसे गति-विश्वासी के अवतार की आवश्यकता है, अंतर यह होना चाहिए कि वह संस्था और सहायता का आश्रय न तके, स्वयं कर्मयोगी बने, तभी वह अमर हो सकता है। अमर विनय का अवतार है; पर वह प्रेम के जटिल मार्ग में पड़ गया है। विनय और सोफी समानान्तर चलते हैं—विनय के सामने सोफी है, केवल सोफी, दूसरा कोई है ही

नहीं—और उससे मिलने में बाधा है धर्म की, जो उसकी माता का सहारा पाकर दोनों के मिलने में एक अनंत अड़चन बन गया है। मातृप्रेम और दाम्पत्य-प्रेम में जहाँ संघर्ष है, वहाँ विनय और सोफी हैं। इसी प्रेम को लेकर विनय जब अमर बना, तो उसे मा से छुटकारा मिल गया, पर साथ में विवाहित प्रेम पड़ गया—विवाहित प्रेम में प्रेम का स्वरूप क्या है यह लेखक ध्वनित मात्र करता है। वह कहना वस्तुतः यह चाहता है कि इस प्रेम में योग्यता होते हुए भी नव-विवाह-जन्य दायित्वों के कारण स्वतःसिद्ध अधिकार आ जाता है तो वह एक ऐसी निश्चिन्तता पा लेता है कि नव विकास के साथ चलने में कठिनाई उपस्थित करे। वह हृदयों में से आतुरता दूर कर देता है। पिपासा के लिये उसमें स्थान नहीं—और कहीं किसी हृदय में यह अतृप्ति जाग्रत हो जाय तो वहाँ विभ्रम ही उपस्थित होता है। अमर में अतृप्ति है। वह गति का उपासक है, कर्म को ही अधिकार समझता है—उसके अनिर्गुण उसके पिता, उसको छोड़ उसके विरुद्ध पड़यंत्र किये हुए हैं, वे कर्म के अधिकार के अतिरिक्त इस अर्थ-अधिकार में भी, अधिकार में ही नहीं, उसके भाग में भी विश्वास करते हैं—तभी अमर का घर छोड़ना पड़ता है। दगिद्रा पटानिन की कन्या 'सकीना' के सौंदर्य पर अपना हृदय चढ़ा देता है और धर्म को, धर्म से प्राप्त अपनी पत्नी को लात मार देता है। यह सकीना के कारण होता है, पर उसे ग्रहण नहीं कर सकता—वह अछूतों में जा पहुँचता है। वहाँ मुन्नी है। मुन्नी उसकी आँखें आकर्षित होती है—उसके सामने सुखदा पहले से हो है—फिर सकीना सुलमान और मुन्नी नीच जाति की आकर उसके मार्ग को काटती है। सकीना उसका मार्ग काट जाती है, वह उस मार्ग का काटा जाना स्वयं स्वीकार कर लेता है; क्योंकि जहाँ उसके जीवन के पतंग का डोरा बँधा हुआ है, वहाँ उसका कर्म-मृत्यु मर रहा है—और तब वहाँ से कटकर उड़े पतंग की भाँति पहाड़ी अछूतों के गाँव में जा पड़ता है। यहाँ मुन्नी लगता है कि उसका मार्ग काटेगी; पर

नहीं, वह सामानान्तर चली चलती है, चली चलती है, और उसी कम को लेकर चलती है। तब घर में प्रतिक्रिया होती है। कटे पतंग को लूटने के लिये दौड़ मचती है—और भागनेवाले समरकांत, सुखदा, नैना सभी पतंग से आगे निकल जाते हैं, और वे लांग जिन्होंने पतंग पकड़ रखा है, उन भागनेवालों का साहस देख उनका पतंग उन तक पहुँचा देते हैं।

हिंदू-मुसलमान दोनों यहाँ निजी बनकर चले हैं। उनमें परस्पर सौंदर्य है। घर ने इसमें घर बनाने की चेष्टा की; पर उसे बाहर के लिये भागना ही पड़ा। इसमें फिर चुंगी सामने आयी है। अनमेल विवाह तो है पर वह सेवा-मदन की समस्या से भिन्न समस्या के लिये है। वहाँ आर्थिक दुरवस्था का फल था, यहाँ अर्थ-मद का। वहाँ विवाह के साथ सामाजिक पहलू था, वहाँ पाप और पुण्य तथा गृह-मर्यादा जो समाज के कारण ही बनती थी, वह थी; पर यहाँ उसका लेश भी नहीं। सारी समस्या व्यक्ति की है। विवाह में समाज का हाथ हो तो हो, पर वह व्यक्ति का संहार करने के लिये क्यों हो? व्यक्ति यदि समाज का संहार नहीं कर सकेगा—उस समाज का जो इतना मृत हो गया है, या जिसे इतना लकबा मार गया है, उसके सभी अणु-परमाणु जीवन से चैतन्य नहीं मिलते—यदि ऐसे समाज का वह संहार नहीं कर सकेगा, तो स्वयं मिट जायगा। वह विवाह की समस्या है; पर प्रमुखता है अछूत और अछूतोद्धार की। प्रेमचंद ने इस प्रश्न को इस नाम से तो रखा है, उनमें अछूत हैं, पर वे इस समस्या को केवल मानवी समस्या बना गये हैं। कचहरियाँ, अधिकारीवर्ग सब वही चले आ रहे हैं जो 'सेवासदन' में थे—उनकी रूप-रेखा अवश्य उभरती गयी है। उनका अन्तर अवश्य खुलता गया है। गृह-संघर्ष और उपन्यासों से प्रबल है और गृहस्थिरता का कर्म के लिए स्पष्ट बलिदान है। कर्म में लेखक इतना फँस गया है, कि कर्म का वह स्रोत जो अध्यात्म है, जिसे कवि अपने अन्दर निरंतर पोसता रहा है, जिसके

लिए उसके हृदय में सदा एक (ओज) रहा है—और जिसकी चमत्कारिणी शक्तियों को वह अन्धविश्वास से अलग कर एक वैज्ञानिक सत्य के रूप में समझता रहा है, 'कर्मभूमि' में सर्वथा उपेक्षित रहा है—और तभी लेखक ने 'कायाकल्प' में उसका सारा उत्तुंग कोट खड़ा कर दिया है, अपने (ओज) को उसने आपके सामने रख दिया है। प्रश्न सेवा, प्रेम, सत्य और कर्म से आगे का हो है, इसमें संदेह नहीं। सेवा में प्रेम, प्रेम में सत्य और सत्य में कर्म। उससे आगे इन सबमें जो 'आत्मत्व' है उसका बोध लेखक को होगा ही। और वह सब में देकर ही रहेगा। 'रंगभूमि' में जो सोफी थी वह कर्मभूमि में 'सकोना' और मुन्नी में बैठ गयी थी, यहाँ फिर वह 'मनोरमा' में मिल गयी है। विट्ठल प्रेमशंकर विनय और अमर के बाद जो हम चक्रधर के पास आते हैं तो हमें स्पष्ट परिलक्षित होता है कि वह इन सबके तत्त्वों को लेकर जैसे पागल हा उठता है और इन सबसे वह अमर की रसिकता के आगे सत्य प्रेम चाहता है। जिस सोफी को उसने 'रंगभूमि' में ठुकराया, जिस सकोना और मुन्नी को 'कर्मभूमि' में उपेक्षा कर गया, उनकी ओर जाकर भी क्या उस मनोरमा को भी ठुकरायेगा। कर्म के लिए अपने सत्य भाव को कुचल डालेगा, और कर्म के लिए कर्म-संगिनी को साथ न लेकर क्या कर्मपूजक को साथ लेगा—वह क्या यह भूल जाना चाहता है कि कर्मपूजक कर्म की पूजा करता और उसके फल को चम्बता रह जायगा, क्योंकि उसे तुम्हारे अन्तर तक, निकट तक, पहुँचने का शौभाग्य ही नहीं मिल पाया। चक्रधर ने मनोरमा को ठुकराया या कहे उससे वह बचा और भागा कर्मपूजक को ओर, अहल्या को उसने ग्रहण कर लिया। और इसी अन्तर की सन्चाई की पीड़ा का रोमांस एक विदग्ध और खडित जल-प्रवाह की कसण कहानी 'कायाकल्प' में है। तो इस प्रेम को चक्रधर ने ठुकराया—पर एक प्रेम 'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर ने गायत्री से भी तो किया था। वह कपट-नाटक, जिसमें प्रेम के साथ न जाने कितना और क्या कुछ मिला दिया

गया—उसका मार्ग-निर्देश भी तो होना चाहिए । वही प्रेम की चिनगारी लिये गायत्री विधवा 'देवप्रिया' बनकर 'कायाकल्प' में आयी । उसकी अतृप्ति और अतृप्ति ही नहीं, विषाक्त वासना, उस आगे बढ़नेवाले प्रेम को रड़-रड़कर आदेश देती है, लौटो-लौटो । यह पुनर्जन्म लौटना है, यह कायाकल्प लौटना है, पर लौटा जाय किस लिए ? और यदि देवप्रिया और उसके पति, कर्म के बाद बने चक्रवर जैसे प्रेमयोगी के पुत्र होकर भी इस देवप्रिया या कमला को नहीं समझा सके तो गायत्री किसी का अवतार धारण करे उसका निस्तार नहीं —उमे पा-पाकर खोना होगा —और लौटाना तो यहाँ का नियम ही नहीं । और इस कायाकल्प में जहाँ लेखक ने अपने चिरपोषित ओज का उद्गार किया है, वह हिन्दू मुसलमानों को भी लड़ा बैठा है—तुम भाई-भाई लड़ बैठो, अमलियत को छोड़कर यदि यही पसंद है तो यही सही । कायाकल्प में और सब जाना-पहचाना है । मनोरमा तो सोफी है ही ; वह जो सूत्री के रूप में आकर श्रद्धा करने लगी सो यहाँ मनोरमा बनकर प्रेम को श्रद्धा में परिणत कर बैठी । सोफी ने तो नाममात्र को क्लार्क से संबंध किया था, पर मनोरमा तो चक्रवर की सहायता को पाकर विवाह कर बैठी । उसे विवाह और प्रेम में कोई विरोध न मिला—'कायाकल्प' एक रूपक है और मानव अपने से बाहर जो अपना रूप देवता है उसकी चाह में ही उसकी भटक है ; वह भटक ही 'कायाकल्प' है । जमींदार और मजदूर तथा कृषक, हिंदू और मुसलमान ये सब केवल भूमिका के लिए हैं ।

—प्रो० सत्येंद्र

कायाकल्प

प्रेमचंदजी के 'कायाकल्प' को आदि से अंत तक पढ़ा। सेवासदन प्रेमाश्रम, रंगभूमि सभी उपन्यास पढ़े थे। सबका प्रयोजन समझ में आया, परंतु इसका क्या प्रयोजन है, समझ में नहीं आया। एक नये विषय, एक जटिल आध्यात्मिक प्रश्न की, उपन्यास के बहाने, व्याख्या की गयी है। बाकी चरित्र वही है जिनका हमें पहले से परिचय था। हैं वे केवल नये रूप में।

प्रेमचंदजी का कोई भी उपन्यास ऐसा नहीं है जिसमें भारतवर्ष के राष्ट्रीय जीवन के दैनिक रूढ़-रंग के परिवर्तन का प्रतिबिंब न पड़ा हो। 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' में न युवकों और सेवा-समितियों के आदर्श और कठिनाइयों का परिचय है तो 'रंगभूमि' में देहाती जीवन के विप्लव की झलक है, और 'कायाकल्प' में इस जीवन का हिंदू-मुसलिम विरोध की कठिन समस्या पर प्रकाश डाला गया है। इसके परे अन्य विषय पुराने हैं। राजा विशालमिह के कारिंदे गाँवों पर, देहातियों पर अत्याचार करते हैं तो 'रंगभूमि' में भी उदयपुर राज्य के अंतर्गत अत्याचारियों का प्रबल प्रकोप था। वहाँ विनय पद दलित प्रजा की तरफ से हिमायत करते थे, यहाँ चक्रधर उनकी ओर से कष्ट सहन करते हैं। विनय जेल गये तो चक्रधर भी जेल जाते हैं। सेवा-मार्ग में जो कठिनाइयाँ विनय को थी वही चक्रधर को हैं। वहाँ सोफी का चरित्र प्रेम और आदर्श के संयोग से दिव्य हो गया था, यहाँ मनोरमा का

चरित्र आदर्श और विलास-प्रेम की प्रतिद्वंद्विता में रँगीला हो रहा है। दोनों को सेवा मार्ग पर चलनेवाले युवकों से प्रेम है। दोनों उस प्रेम के लिये धन और ऐश्वर्य के द्वार पर अपना बलिदान करते हैं।

देवप्रिया के जीवन में—चरित्र में, 'कायाकल्प' के नए रंग के कारण चित्र नया-सा मालूम पड़ता है, परंतु ध्यान से देखिए तो उसमें हमें 'प्रेमाश्रम' की गायत्री की झलक दिखाई देती है—वही वैधव्य, वही विलास-लालसा। भेद यही है कि गायत्री का पतन हो गया और देवप्रिया को विलाम-लालसा अतृप्त रहों।

कायाकल्प को कहानी संगठित नहीं है। सच पूछिए, तो प्रेमचंदजी के उपन्यासों में से किसी में भी यह गुण मानिए या अवगुण, नहीं है। पर कायाकल्प की कहानी का संगठन रंगभूमि से अच्छा है। उपन्यास का चित्रपट कायाकल्प के चित्र के चारों ओर बना हुआ है। मध्य में देवप्रिया, जिसका मदेह कायाकल्प होता है, और उसका पति है जो हर्षपुर में जन्म लेकर, और फिर अहल्या के कोष से पुनर्जन्म द्वारा अपना कायाकल्प करता है। एक ओर विशालसिंह और उसकी रानियाँ हैं, दूसरी ओर चक्रधर उन पिता वज्रधर, मनोरमा, उनके पिता हरि सेवकसिंह और उनकी रखेली लौंगी है। तीसरी ओर अहल्या, यशोदा नंदन और उसका पुत्र शंखधर है। चौथी ओर एक कोने में खवाजा महमूद और आगरे का हिंदू-मुसलिम विरोध है।

इस उपन्यास में इतने चित्र हैं, पर मनोरमा और चक्रधर ही के चरित्र-चित्रण में उपन्यासकार ने विशेष कौशल दिखाया है। मालूम होता है, त्याग और प्रेम की पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता के तमाशे दिखाने में प्रेमचंदजी को विशेष आनंद आता है। उनके प्रत्येक उपन्यास में इसकी बहार है। वही इसमें भी है। परंतु इसके अलावा छोटे पात्रों पर भी उपन्यासकार ने कृपा की है। मुंशी वज्रधर भिखूले उपन्यासों में अपनी कोई सानी नहीं रखते। उनके दो चित्र यथेष्ट हैं, एक तो उनके फैशन का “अल्पकालीन तहसीलदारी के समय का अलगने का चुगा,

उसी जमाने की सिर पर मंदोल, आँखों में सुरमा और बालों में तेल दूसरा उनकी कचहरी जानेवाली पोशाक का “देह पर पुराना अबक जिसका रंग उनके असली रंग को छिपाए हुए था, नीचे एक पतलून जो कनरबद न होने के कारण खिसक कर इतना नीचा हो गया था कि घुटनों के नीचे एक झोल-सा पड़ गया था।” ठाकुर हारसेवक सिंद को रखेजो लोंगी भी एक नई पात्री है। लोंगी के दर्शन इमें उमवे पाप को नहीं, उसके मातृत्व स्नेह, उसकी असीम करुणा और त्याग की याद दिलाते हैं। तभी तो उपन्यासकार न मनोरमा के सामने आजीवन शिक्षा देने के लिए “लोंगी को दे-वो” वाक्य टाँग दिये।

परंतु अभी उन दो प्रश्नों का केवल उल्लेख ही किया गया है, जिनके कारण इस उपन्यास की सृष्टि हुई है। इनमें एक प्रश्न है राजनीतिक और दूसरा आध्यात्मिक। इनके अंतर्गत पात्रों के चरित्र-विवरण की कोई आवश्यकता नहीं है। इन सबका एक ही काम है इन प्रश्नों पर प्रकाश डालना।

हिंदू-मुसलिम कलह का राजनीतिक प्रश्न इस समय सारे देश को हिला रहा है। उपन्यास में यह प्रश्न आगरे में गऊ की कुरबानी-वाले भगड़े को लेकर उपस्थित किया गया है। परंतु अब गऊ को कुरबानी पोछे रही। उसमें मुसलमानों ने हिंदुओं को चिढ़ाने का यह दंग निकाला था। अब दूसरी ही बात है। अब मुसलमानों ही ने अपने चिढ़ाने के लिए यह भगड़ा करना शुरू कर दिया है कि मसजिद के सामने से बाजा बजाते हुए न निकलो। बहस से मतलब नहीं। नजीरों कोई कारगर नहीं। बस, जिद पूरी होनी चाहिए। इधर हिंदुओं ने भी अड़ना शुरू कर दिया। फिर क्या था, जगह-जगह दंगे फिमाद होने लगे. मार-पीट, खून-खच्कर तक नौबत आ गयी। जो देश-नेता समझते थे कि हम स्वराज्य प्राप्त कर लेंगे, वे अब शांत ही हैं। अब तो हिंदुओं को अपने अधिकार और मुसलमानों को अपनी जिद की फिक्र है। स्वराज्य और समाज-सुधार का प्रश्न स्थगित है, और उन्हीं

ताओं की कदर है जो अपने-अपने धर्मावलंबियों की निराधार द्वेषान्ति प्रचंड करने में योग दे रहे हैं ।

यह प्रश्न क्योंकर हल हो ? क्या समय पर छोड़ देने से ही यह आपसे आप हल हो जायगा ? हिंदू और मुसलमान दोनों समझने लगे कि भगड़ा करने में हम दोनों की हानि है और तब भगड़े की बसूतें खत्म हो जायँगी । क्या यह तो न होगा कि समय पर छोड़ देने से यह बीमारी असाध्य हो जायगी ? जब तक पैसला कराने के लिये तीसरा दल मौजूद है, तब तक हम आपस में समझौता ही क्यों रेंगे ? यदि यह सत्य है, तो क्या करना चाहिए ? क्या हिंदुओं का मुसलमानों की जिद को मान लेना ठीक होगा ? कहानी के बहाने पन्यामकार ने इस उलझन को सुलझाने का प्रयत्न किया है । शोदानंदन और ख्वाजा महमूद जो सेवा-समिति में एक दूसरे का हाथ देते थे—एक दूसरे के दुश्मन हो गये । दोनों के पारस्परिक झगड़े को किसने मिटाया ? चक्रधर ने, एक नवयुवक के त्याग ने, अपने प्राण हथेली पर रखकर । यही इस प्रश्न को सुलझाने का एक ग दिखाई देता है । इस हिंदू-मुसलिम मनोमालिन्य का इलाज देश नवयुवकों के हाथ में है । यौवन में सहानुभूति है, उसमें आत्म-गम का बल है, वह जाति-गति के भेद को नहीं समझता । हम देश यौवन ही से इस मनोमालिन्य को मिटाने की याचना कर सकते हैं । अस्थ-पाठशाला इलाहाबाद के प्रिंसिपल पियर्स ने इस संबंध में जो दृष्टवपूर्ण प्रस्ताव किया था, वह विचारणीय है । उनका कथन था कि दू और मुसलमान नवयुवकों का एक सेवा-दल हो । जहाँ कहीं भगड़े की संभावना हो, वहाँ यह सेवा-दल ही आगे बढ़कर काम करे और दू-मुसलमान पक्षपातियों को अपने पारस्परिक भ्रातृभाव से शर्मिंदा रे । अध्यापक-समाज का इस संबंध में भारी उत्तरदायित्व है । वे इस नीत-कार्य में सबसे अधिक योग दे सकते हैं । वे ही दिन-प्रति-दिन श की दोनों जातियों के बीच समानता तथा मैत्री के भावों की पुष्टि

कर सकते हैं। इनके बाहर बड़े आदमियों में तो इस वक्त धर्म अनर्थ हो रहा है, हिंदुओं के धर्म और मुसलमानों के दीन को आवाज बुलंद है, और पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति का माठ पढ़ानेवाले एक कोने में मुँह छिपाये बैठे हैं।

दूसरा प्रश्न जिस पर प्रकाश डाला गया है और जिसके कारण उपन्यास का नामकरण भी हुआ है, आध्यात्मिक है। क्या पूर्व जन्म की स्मृति हमें रह सकती है? क्या अतृप्त वासनाओं ही व कारण पुनर्जन्म होता है? क्या पुनर्जन्म प्राप्त होने पर फिर हम उन्हीं वासनाओं को तृप्त करने का प्रयत्न करते हैं? क्या धाव-कन्या सत्यवती का अनंत यौवन कवि की कल्पनामात्र है? क्या देवप्रिया का सदेह कायाकल्प विज्ञान और योग के समागम से किसी सुदूर भविष्य में संभव न हो सकेगा? प्रश्न बड़े जटिल हैं, और जो कुछ प्रकाश उपन्यासकार ने डाला है, वह यथेष्ट नहीं है। उन्होंने महेंद्रकुमार-द्वारा तिब्बती साधु की जो आश्चर्यमयी कहानी सुनाई है, उसमें सत्य का अंश अवश्य है। भारतवर्ष में जिस विषय की चर्चा उसके शास्त्रों में है, उसपर अब पाश्चात्य देशों के विज्ञान का प्रकाश डाला जा रहा है। मृत-देहधारियों की आत्माओं को बुलाना, उनसे बातें करना, उनकी बातें सुनना, उनकी छाया को कैमरे के फोटोग्राफिक प्लेट पर लाना, सब कुछ संभव हो चुका है। पूर्व जन्म की स्मृति के भी उदाहरण अक्सर मिला करते हैं। थैराइड ग्लैंड को बदलकर पश्चिमी वैद्य पुनर्यौवन प्राप्त कराने का बीड़ा उठा रहे हैं। इधर योग-साधना और प्राणायाम के बल पर अनेक चमत्कार प्राप्त करने की बातें सुनाई दे रही हैं।

एक हमारे जाने हुए शिक्षित महोदय योग-साधना करते हैं। वह कुछ दिन हुए, भरतपुर में आए हुए एक साधु के दर्शन करने गए थे। उनकी जबानी मान्य है कि तिब्बत में वे एक प्रयोग-क्रिया करते हैं जिसके द्वारा मृत्यु के पुनर्जन्म प्राप्त कर सकता है। मनुष्य

प्राणायाम और योग-द्वारा अपने जीवनकाल को बहुत कुछ बढ़ा सकता है। महेंद्रकुमार ने चंद्रलोक की यात्रा करने का विवरण दिया है। यह साधु मंगल-लोक की यात्रा करने का विचार कर रहे हैं। जिस क्रिया द्वारा यह यात्रा हो सकेगी वह निम्बल तथा हिमालय के अनंत हिम ही में हो सकती है। समाधि लेने पर उनकी आत्मा स्वतंत्र हो जायगी और उनका निर्जीव शरीर हिम-सुरक्षित दबा पड़ा रहेगा। तब तक उनकी आत्मा मंगल-लोक की यात्रा कर और वहाँ किसी प्राणी के शरीर द्वारा अनुभव प्राप्त कर लौट आवेगी और तब वह अपने समाधि से जगकर अपना अनुभव सुनावेंगे। कायाकल्प को कभी से मालूम होता है कि योग-साधना के लिए ब्रह्मचर्य और संयम की आवश्यकता है। संयम के एक बार टूटने पर उनका अंत हुआ ; फिर पुनर्जन्म होने पर भी उनका संयम के टूटने पर ही अंत हुआ। यह उन साधु का भी कहना था कि अनंत ब्रह्मचर्य और कठिन संयम—योग-साधना की प्रथम सीढ़ियाँ हैं। परंतु इतना ब्रह्मचर्य पालन करके भी कहाँ तक ऐसे आश्चर्यमय कार्य हो सकेंगे, हम नहीं कह सकते। परंतु, अक्सर साधुओं को कुछ दिन के लिए समाधि लगाते हुए तो हमने भी सुना है। क्या आश्चर्य है कि प्राचीन योगशास्त्र और आधुनिक विज्ञान के सहारे वही भविष्य में सम्भव हो सके जो अभी हमें अगम्य, असम्भव मालूम होता है।

निर्मला

(क) ममम्य एं

‘निर्मला’ सामाजिक उपन्यास है जिसमें दहेज न दे सकने के कारण कन्या के विवाह में आनेवाली बाधाओं की चर्चा है। पन्द्रह वर्षीय किशोरी निर्मला को ‘जिसके यौवन का अभी तक पूर्ण प्रकाश नहीं हुआ है,’ एक चालीस वर्ष के अधेड़ के साथ व्याह देना कितना भयंकर सामाजिक पाप है, यही दिखाना इस उपन्यास का उद्देश्य है। ‘वकालत के कठिन परिश्रम ने जिसके बाल पका दिए हैं, व्यायाम करने का जिसे कभी अवकाश नहीं मिलता, यहाँ तक कि जो घूमने भी नहीं जा सकता जिसके तोंद निरुल आई है, देह के स्थूल हाँते हुए भी आए दिन कोई न कोई शिकायत जिसे रहती है, मन्दार्गन और बवासीर से जिसका स्याई सम्बन्ध है, और जो बहुत फूँक फूँककर कदम रखता है,’—ऐसा अधेड़ व्यक्ति फूल-सी कुमारी कन्या के पिता की अवस्था का है जिसके ‘पास बैठने और हँसने बोलने में उसे संकोच होता है,’ ‘जिसके सामने वह सिर झुका कर, देह चुगाकर निकलती थी, जिसे भागती फिरती और जिसको देखने ही उसको प्रफुल्लता पलायन कर जाती थी, वकील साहब प्रेम-प्रदर्शन में काँई कसर न रखते; परन्तु उनके व्यवहार में ‘रम न था, उल्लास न था, उन्माद न था, हृदय न था, केवल बनावट थी, धोखा । और था

पुष्क, नीरस शब्दाडंबर। युवती कन्या को ऐसे पति से शारीरिक श्रुति और मानसिक असन्तोष के अतिरिक्त और क्या मिल सकता है ; क्योंकि ऐसी अवस्था के पति को वह 'प्रेम' को वस्तु नहीं सम्मान का वस्तु समझती है ।'

निर्मला के इस दुर्भाग्य की कहानी लेखक ने बहुत निर्मम होकर लिखी है ; कहीं भी उसके प्रति जरा-सी दया नहीं दिखलाई । इस सामाजिक अभिशाप का भयंकर परिणाम है दो-दो परिवारों के समस्त प्राणियों का जीवन भर रोते रहना और उन्हें कराह कराह कर 'बिसूरते' देख लेखक जरा भी दया दिखाने की आवश्यकता नहीं समझता । हाँ, बार-बार उन्हें चिढ़ाने के लिए याद दिलाता है, अघेड़ अवस्था में विवाह करने के येही मजे हैं । निर्मला यही सोचती है रुक्मिणी यही कहती है, वकील साहब यही मोचते हैं, उनके तीनों बच्चे बार बार यद्वा कहते हैं कहाँ रिन भुंगी और गली चलते लोग जो भी इस परिवार की कथा सुनते हैं, सभी यही कहते हैं । वकील साहब का सुखी जीवन संतपन और अशान्त हो जाता है इस विवाह के कारण, उनका जवान बेा भरता है इस विवाह के कारण, माता तुल्य बहन से उनका मन मुट्ठाव होना है इस विवाह के कारण, उनके दोनों छोटे पुत्र कलप-कलप कर घर छोड़ने हैं इस विवाह के कारण और स्वयं धनीमानी वकील साहब पैस-पैसे का मोहनाज हाँकर गली गली ठाकरें खाते हैं इस विवाह के कारण । स्वभाव का सद्गुण और उदार लेखक इस उपन्यास के लिखते समय जो इन्ना निर्मम और कठोर हो गया है उसका कारण यह उद्देश्य ही है कि यदि इस परिवार के पाँच-सात प्राणियों के बलिदान से हमारे समाज की आँखें जरा भी खुल सकें तो अच्छा है । दहेज की प्रथा जिस द्रुत गति से हमारे समाज में फैल गई है, उससे एक-दो नहीं, पचासों परिवारों का इसी तरह नाश हो रहा है, और यह निश्चित है कि इसी रूप में बढ़ते रहने पर प्राणियों के बलिदान का यह क्रम भी चलता रहेगा । और दहेज की चाह कितनी भयंकर हो गई है ! बाप

पदा है तो दहेज चाहिए, लड़का पदा है तब तो कहना ही क्या, बाप नौकर है तो दहेज देनी होगी, लड़का नौकर है तब तो सवाल ही नहीं उठता; घर पर जायदाद है तो दहेज जरूरी है और लड़के में कोई हुनर है तो वह अनिहार्य हो जाता है। नहीं च हिए दहेज सिर्फ उन लिए जिनके या तो 'खूनदान में कोई दाग' है या 'जिनकी पहली लं मर चुकी है और पैतीस-चालीस की अवस्था में तीन-तन लड़की पालन करने के लिए जो एक ऐसा लड़की चाहते हैं जिससे 'एक दो काज' को कहावत सिद्ध हो सके। मुंश' तताराम ऐसे ही बकील हैं जिन्हें कल्याणी ने किशोरी निर्मला के लिए चुना है और यह कह कर मन में सन्त षकर लिया है, 'अयु कुछ अधिक है, लेकिन मरना-जीना विधि के हाथ है पैतीस साल का आदमी बुढ़ा नहीं कहलाता। अगर लड़की के भाग्य में सुख भोगना बदा है तो जहाँ जायगी, सुखी रहेगी; दुख भोगना है तो जहाँ जायगी, दुख भेलेगी। हमारी निर्मला को बच्चों से प्रेम है; उसके बच्चों को अपना समझेगी।' अस्तु

दहेज चाहनेवाले युवकों को भी अपनी लोलुरता का फल भोगना पड़ता है। वे डाक्टर सिनहा की तरह पाँच हजार दहेज में तो पा लेते हैं; परन्तु पत्नी मन को नहीं मिलती और बाद में जिस लड़की को दहेज न मिलने के कारण छोड़ दिया था उसके रूप-गुण की चर्चा सुनकर उन्हें हाथ मलकर और मन मसं स कर रह जाना पड़ता है। ऐसे युवकों को सचेत करने के लिए लेखक ने दण्ड भी बड़ा भयानक और कठोर दिया है। निर्मला को एक दिन एकान्त में पाकर युवक-प्रवृत्ति की दुर्बलता के वशीभूत हो जब डाक्टर सिनहा अपनी मानसिक अस्थिरता का परिचय देता है, तब उसे विष खाकर आत्महत्या करने पर ही शान्ति मिलती है। लेखक का संकेत है कि इस युवक का यह दण्ड उसके अन्तिम अपराध के लिए नहीं मिला है, प्रत्युत उसके पूर्व पाप का—'एक लाख रुपए की' दहेज के लोभ से अलभ्य रत्न को, घर आई लक्ष्मी को, ठुकरा देने का—प्रायश्चित है।

एक परोक्ष संकेत और है। अच्छी दहेज पाने की चाह निर्धन परिवार के लड़कों को उतनी नहीं हाता जितनी धनवा ों को। इन्हें ध्यान रखना चाहिए कि अपने जिस धन के मद में वे जमीन पर पैर नहीं रखते वह किसी भी दिन दैवी-मानवी आपत्तियों के कारण नष्ट हो सकता है। निर्मला के पिता वकील उदयभानु रईस हैं और उनके पति मुंशी तोताराम भी। एक दैवी आपत्तियों की भेंट होता है और दूसरा मानवी की। दोनों वकील घराने देखते-देखते निर्धन हो जाते हैं। मानवी आपत्तियों की मार तो निर्मला के पति तीन-चार साल सह भी लेते हैं, परंतु दैवी आपत्ति का धक्का एक दिन के कुछ घंटों में ही चौपट कर देता है। घनांध और मदांध युवक इस संकेत से यदि सचेत हो सकें तो उनका जीवन सुख-शान्तिमय हो सकता है।

इस सामाजिक समस्या के सुधार का एक उपाय भी लेखक ने बतलाया है। दहेज के लोभ में निर्मला जैसी आदर्श बालिका को जिस डाक्टर सिनहा ने ठुकरा दिया था, वही पत्नी द्वारा प्रेरित किए जाने पर अपने छोटे भाई का विवाह उसकी बहन कृष्णा से करने के लिए धन-लोभी पिता को तैयार करता है। सिनहा का भाई जाग्रत भारत का खहर-प्रेमी युवक है जो गाँव गाँव में जाकर उसका प्रचार करता है। लेखक ने यद्यपि इस और कोई संकेत नहीं किया है तथापि, बहुत संभव है, दहेज-प्रथा का विरोध इस युवक ने भी किया हो। जो हो, एक यही ढंग, लेखक की सम्मति में, ऐसा है जिससे निर्धन या 'बिगड़े' परिवारों की कन्या-रत्नों का उद्धार हो सकता है। परंतु सुधार या सुधार के उद्देश्य से लेखक दहेज-प्रथा का विरोध की आवश्यकता नहीं समझता। उसका संकेत है कि यदि अपना भावी जीवन सुखी बनाना चाहते हो, यदि अपनी भूल से निर्मला-जैसा अलस्य रत्न खोकर बाद को पछताना नहीं चाहते और कृष्णा-जैसी स्वोद्देश्यानुगामिनी पत्नी, जो भावी पति के खहर-प्रेमी की चर्चा सुनकर हो उनकी प्रसन्नता के लिए रात-रात भर जागकर चर्खा चलाना शुरू कर देती है, चाहते

हा जिससे पारिवारिक जीवन प्रेममय, शांतिमय और मोद्देश्य हो सके, तो दहेज के वे थोड़े रुपए छाड़ दो — ठुकरा दो — जो तुम्हारे विवाह के माज-सामान में, नाच-रंग में, खेल-तमाशे में, दावत-जयानार में दो-चार दिनों में समाप्त हो जायँगे और तुम्हारे लिए व्यर्थ का पछतावा और पाप का बाँझ छोड़ जायँगे। स्पष्ट है कि इस सामयिक समस्या को सुलझाने का इस उपाय में निर्देशित उपाय केवल सैद्धांतिक नहीं, क्रियात्मक है और आदर्श भी।

(ख) कथा-विकास और उत्सुकता-वृद्धि

प्रेमचंदजी के उपन्यासों का कथा-स्रोत अनेक धाराओं में होकर प्रवाहित होता है। लड़ाई-बड़ी घटनाएँ क्षीण और पीन जल-धाराओं के समान मुख्य प्रवाह से इधर-उधर बढ़ती हुई अपनी परिधि के अंतर्गत बसनेवाले जन-समाज का ध्यान मूल स्रोत की ओर आकर्षित कर उसी में पुनः लीन हो अपना अस्तित्व खो बैठती हैं। अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में लेखक ने प्रायः एक-एक घटना का ही विकास दिखाया है और एक प्रसंग की समाप्ति के पश्चात् दूसरा नवीन रूप में सामने रखकर पाठक की उत्सुकता बनाए रखी है। 'निर्मला' में मसाराप का प्रसंग मूल-धारा की सबसे प्रधान शाखा है। युवावस्था में पेर रखते पुत्र के युवती पत्नी से मिलने-जुलने की सूचना पाकर तोनाराम के हृदय में शंका का जन्म होता है और अनेक कौतूहलजनक उपप्रसंगों की सृष्टि के पश्चात् बारहवें परिच्छेद में इसका अंत होता है। तेरहवें परिच्छेद से निर्मला अनुजा कृष्णा के विवाह की समस्या सामने रखकर पाठक का ध्यान उस ओर आकर्षित कर देती है। पश्चात्, जयाराम और सियाराम की चर्चा और डाक्टर सिनहा का व्यवहार, दोनों बातें वकील साहब के और निर्मला के भावी जीवन का क्रम और मूल-कथा-विकास की गति-विधि निश्चित करती चलती हैं। अस्तु।

कथा का क्रमशः विकास करके ऐसे स्थल पर ले जाना कि पाठक की उत्सुकता बहुत बढ़ जाय ; सौंस रोककर वह आगे का हाल जानने को बिकल हो जाय, पर लेखक ऐसे ही स्थल पर अध्याय समाप्त करके नए परिच्छेद में कथा का दूसरा नया-पुराना सूत्र पकड़कर कोई नई बात करना चाहे अथवा पिछला अनूरा प्रसंग पूरा करे, उत्सुकता-वृद्धि का यह ढंग, जो पुराने ढर्रे के ऐयारी-जासूसी उपन्यासों में देखने को मिलता है, प्रेमचंदजी ने नहीं अपनाया । वस्तुतः पाठक की उत्सुकता-वृद्धि का प्रबंध कर लेना उपन्यासकार की सफलता का प्रधान कारण है । इसके लिए कई प्रकार के उपायों का सहारा लेखक को लेना पड़ता है । कभी तो वह कथा का भावी गति-विधि के सम्बन्ध में अनिश्चात्मक संकेत करके अपना उद्देश्य पूरा करता है और कभी कथानक का रोचक ढंग से विकास करके । प्रथम साधन अपने मूल-रूप में उपन्यास के अन्य तत्त्वों से स्वतंत्र है और दूसरा पात्रों की प्रकृति और परिस्थिति की परिवर्तनशीलता से सम्बन्धित ।

प्रथम साधन—कथानक की भावी गति-विधि के संबंध में अनिश्चात्मक संकेत लेखक ने स्पष्टतः दो रूपों में किए हैं—एक, सांकेतिक स्वप्न द्वारा ; दूसरा, पात्रों की भावी योजना की असफलता-विषयक सूचना देकर । विवाह की सूचना पाते ही परिवार में कन्या की दयनीय स्थिति पर विचार करते-करते निर्मला दुखी हो जाती है और एक भयानक स्वप्न देखती है कि जीवन का आार सागर उसे जिस टूटी नौका पर चढ़कर पार करना पड़ रहा है उसमें जरा देर बाद ही पानी भरने लगता है । अपने भलाह के साथ मिलकर पानी उलोचने पर भी उसे विपत्ति से छुटकारा नहीं मिलता और मालूम होता है—नाव अब डूबी, अब डूबी । यह स्वप्न उसके भावी जीवन की कथा जानने के लिए पाठक को विशेष उत्सुक बना देता है और वह निर्मला की तरह ही भयभीत होकर सोचने लगता है कि जो सुकुमारी किशोरी आज सब तरह से सुखी है, अच्छे घर ब्याही जाने की है, क्या सचमुच

तमका भविष्य इतना अधकारमय है ? क्या उसके जीवन का अंत ऐसा ही दयनय हांगा ? यदि हाँ, तो कैम ? दैहिक, दैविक और भौतिक मया प्रकार का आपत्तियाँ जीवन में सम्भव हैं । तो देखें कौन विपत्ति निमला के भाग्यचक्र को उलट देती है ?

इसी तरह का दूसरा माम्प मुंशी तोताराम ने मृत्यु-शय्या पर पड़े पुत्र ममराम के मिरहारे बैठकर देखा है । उनका पहला आ जैम मंमाराम के सामने खड़ी कह रही है—स्वामी, जिस बलक को मैंने अपना एक पिना-पिलाकर पाला, उसको तुमने इतनी निर्दयता से मार डाला । इतना बड़ा आमान महकर जीनेवाले कोई बेइया हागे । मेरा बेटा यह नहीं सह सकता । यह कहते-कहते अपने बलक का गोद में छड़ा लिया और चली । मुंशी ने ने गोद हूर उसकी गोद से ममराम को ज़ोनने के लिए हाथ बढ़ाया ता आँवे खुन गई । मुंशीनी का यह स्वप्न पढ़ने-पढ़ने पाठक मंमाराम के जीवन म निराश हो जाता है ।

कथा की भावी प्रगति के सम्बन्ध में लेखक ने तीन-चार स्थलों पर पात्रों के अनुमान के प्रतिकूल घटना घटने की बात कहकर पाठक की उत्सुकता बढ़ाई है । वकील उदयभानु ने दस-पाँच दिन के लिए कहीं जाने का निश्चय करके घर छोड़ा, तब लेखक कहता है—‘पर यह कौन जानता था कि यह सारी लीला विवि के हाथों रची जा रही है । जवन रंगशाला का यह निर्दय सूत्रधार किसी अगम्य गुप्त स्थान पर बैठा हुआ अपनी जटिल गुप्त लीला दिखा रहा है । यह कौन जानता था कि नकल असल होने जा रही है, अभिनय सत्य का रूप ग्रहण करने-वाला है ।’

दूसरे प्रकार के उपाय का सहारा सभी उपन्यासलेखकों को लेना पड़ता है । इस साधन के मुख्य दो रूप प्रायः देखने में आते हैं—एक, पात्रों के स्वभाव की विचित्रता के कारण उत्सुकता बढ़ानेवाले साधन ; दूसरा, पात्र-पात्रियों की परिस्थिति के महमा परिवर्तित हो जाने से सम्बन्धित साधन । प्रस्तुत उपन्यास में ये दोनों रूप मिलते हैं । विवाह

के पूर्व और पश्चात् निर्मला के स्वभाव में, युवत' पत्नी पाकर भुंशी तोताराम की प्रकृति में और विमाता के उद्देश्य-आदर्श न समझने के कारण मसारा के व्यवहार में जो नए-नए परिवर्तन होते हैं, निसंदेह उनमें पाठक की उत्सुकता बढ़ती है। वहील उद्यमानु की मृत्यु के पश्चात् परिवार की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन हो जाने के कारण हम यह जानने की उत्सुक हो जाते हैं कि आबकारी के उच्च पदाधिकारी अब किस तरह इनसे व्यवहार करेंगे। निर्मला के रूप-गुण की चर्चा के साथ पत्नी सुधा की फटकार सुनकर डाक्टर सिनहा का विचार-व्यवहार-परिवर्तन भी उत्सुकता-वृद्धि का दूसरा ही साधन है, क्योंकि इसे परिस्थिति बदल जाने का ही परिणाम सम्भूत चाहिए।

उत्सुकता वृद्धि का एक तीसरा दग सुधा-सिनहा का परिचय इस उपन्यास में निर्मला को न देकर लेखक ने अनायास है। सुधा की प्रेरणा से डाक्टर सिनहा भाई का विवाह निर्धन परिवार की कन्या कृष्णा से करने की तैयारी हो जाते हैं, ५००) की सहायता गुप्त रूप से देते हैं, निर्मला इस सहायता को किस रूप में स्वीकार करेगी और सुधा-सिनहा का परिचय पाकर उसकी मानसिक स्थिति में क्या परिवर्तन होगा, ये जानने का हम अन्त तक उत्सुक रहते हैं। उत्सुकता-वृद्धि का यह तीसरा साधन निसंदेह पाठक का चित्त चमत्कृत करनेवाला है।

(ग) पात्र

प्रस्तुत उपन्यास में पात्रों की संख्या थोड़ी ही है। निर्मला, तोताराम और मसारा, केवल तीन पात्र प्रधान हैं। अप्रधान पात्रों में सुधा, रुक्मिणी और भुवनमोहन हैं। उद्यमानु, और कल्याणी, मालचंद और रंगीलीबाई, कृष्णा और मोटेराम कथासूत्र को संगठित करने के लिए दो-एक बार सामने आते हैं। तोताराम के दो पुत्र उतरती अवस्था में विवाह करने का भयंकर परिणाम भुगत कर उनका जीवन क्लेशपूर्ण बनाने के लिए पैदा किए गए हैं।

प्रधान पात्रों के सामने एक न एक समस्या बराबर बनी रहती है । विवाह करते ही पिता की अवस्था का पति ग़र कर निर्मला के हृदय में रहस्यमय गम्भीरता का जन्म होता है । युवती पत्नी का आवर्षित करने में शारीरिक अयोग्यता के कारण अममर्थ होकर जब मुंशी तोताराम 'दंपति-विज्ञान' के नुस्खे आजमाते है या मित्रों की सलाह से जमौमर्द बनने का स्वींग रचने हैं तब उनकी हार्दिक आमलाषा का अनुमान करके और 'पति को उन्माद न हो जाय इस भय से' निर्मला अपने हृदय का स्वाभाविक सुख-लालमाओं को निर्ममता से कुनल देती है और मन की वेदनाओं को बरबस दबाकर हँमता हुई पति के सामने आती है । अपने सुख-स्वप्नों की इस प्रकार इत्या कर्के आनी 'सहास्य छुवि' से निर्मला पति को सन्तुष्ट कर भी नहीं पई है कि उसके सामने एक दूसरी भयंकर समस्या आ जाती है । पत्नी के 'हमसिन' पुत्र को उसम निसंकांच बात करते देख और इसी में उसके अङ्गरेजी पढ़ने की बात सुन, अवेड़ पति तातागम के जो प्रयत्न कर्के भी पत्नी का संतुष्ट कर सका है और अपनी असफलता से भली भाँति परिचित भी है, हृदय में यह भीषण शंका उत्पन्न हाती है कि मुझे असन्तुष्ट होकर युवती निर्मला कहीं मेरे पुत्र की ओर तो आवर्षित नहीं हुई है । अपने ओछे हृदय पर भा पूर्ण अधर न रखनेवाले वकील साहब यह शंका अपने व्यवहारी में प्रकट भी कर देते हैं । निर्मला सब सुन-समझकर सहसा भयभीत हा जाता है । मंमाराम से उसे पुत्रवत् स्नेह है । उसके निर्मल आचरण की बात सुनकर निर्मला के हृदय में वात्सल्य की हिलोरे उठने लगती हैं । अपने सम्बन्ध के कारण उसे घर से निकाला जाता देख विमाता होते हुए भी निर्मला की छाती फटने लगती है और मंमाराम के ल्हात्रावास चले जाने पर तो सारा दिन उसे रोते बीतता है । परन्तु यह सब होता है एकान्त में ; पति की अनुपस्थिति में । वकील साहब के प्रवेश करते ही वह हृदय पर पत्थर रखकर हँसती हुई सामने आती है, अपने को आवर्षित

और सुसज्जित करके हार्दिक वात्सल्य के प्रवाहपूर्ण पावन स्रोत की निर्मल बारा को कृत्रिम पति-प्रेम की कठोर चट्टानों से सफलता-असफलतापूर्वक रोकते-रोकते ही उसका सारा जीवन विफल हो जाता है ।

उपन्यास की प्रधान पात्री निर्मला के अन्तर्तम प्रदेश में कर्तव्य और वात्सल्य का यह द्वंद्व जितना ही मार्मिक है उतना ही स्वाभाविक भी । इसी तरह का द्वंद्व मुंशी तोताराम के हृदय में भी होता है । अपनी नवयुवती पत्नी को समान अवस्था के पुत्र के साथ देखकर उनके मन में जो अपावन शंका जन्मती है वह उस प्राणप्रिय आत्मज का शत्रु बना देती है ; पुत्र-निर्वासन के पश्चात् भी उससे मुक्ति नहीं मिलती । स्वाभिमानी पुत्र उनकी कलुषित शंका का अनुमान करके ग्लानि और क्षोभ से जर्जर हो जाता है । मंसाराम की दयनीय दशा देखकर कभी-कभी पिता का वात्सल्य ज्योंही प्रकट होता है, त्योंही शंका अपना प्रचंड रूप धारण कर उनके सामने आती और वात्सल्यजनित दुर्बलता को ठुकराने के लिए उन्हें ही विवश करती है । अंत में पुत्र के प्राण लेकर ही राक्षसी शंका की रक्त-पिपासा शांत होती है । इस बलिदान के पश्चात् शेष दोनों पुत्रों का निर्वासन अथवा विवाह की पूर्णाहुति समझना चाहिए ; यों रही-सही कसर भी पूरी हो जाती है ।

पिता और विमाता दोनों के मानसिक द्वंद्वों का दुष्परिणाम भुगतना पड़ता है बेचारे मंसाराम को । विमाता के स्नेहपूर्ण व्यवहार से वह कल्पित और आशंकित हृदय को मुक्त करके सुखी हो भी न पाया था कि पिता ने उसके आचरण पर दोष लगाकर 'आवारा' कहकर दुःख-क्षोभ

के अथाह सागर में बड़ी निर्मगता से गोता दिया । मातृवात्सल्य से संचित इस किशोर का कोमल हृदय इतना कठोर अघात न सह सका । वह आत्महत्या करना चाहता है ; तभी उसे ध्यान होता है कि इस प्रकार प्राण देने से 'संदेह के कठोर पजे में फँसो हुई अबला क्या आने को हत्यागिणी समझकर बहुत दिन तक जीवित रह सकेगी ?' यही से उसके हृदय में अनर्हन्द का आरम्भ होता है और कभी समय तक घोर मानसिक अशांति में चिंतित रह कर पिता के सामने हो विमाना के प्रति उनके हृदय को शंकारहित करने के लिए एक बार पैर छूकर और दूसरे जन्म में उससे माता बनने की प्रार्थना करते-करते प्राण देता है ।

अप्रधान पात्र-पात्रियों में यद्यपि सुधा का चरित्र सबसे प्रधान है, तथापि अन्य भी विशेषतारहित नहीं हैं और सभी कथा-विकास में अपनी स्थिति और योग्यता के अनुसार योग देकर अपने अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध करते हैं ।

(ग) प्रासांगिक विषय

अनुभवी लेखकों के पास लिखने के लिए इतने अधिक प्रसंग रहते हैं कि कथानक-विकास के समय उनके त्याग और चुनाव में बड़ी सतर्कता से उसे काम लेना पड़ता है । अप्रासांगिक विषय को अपना लेने से अथवा विषय-विशेष की व्याख्या को अनावश्यक विस्तार देने से उपन्यास का कलेवर तो बंद जाता है, पर अनेक स्थल अरोचक भी हो जाते हैं । 'निर्मला' में ऐसे खटकनेवाले स्थल बहुत कम हैं और इसलिए प्रेमचंदजी का यह उपन्यास कथा-संगठन की दृष्टि से विशेष सफल है । लेखक ने आदि से अंत तक कथा-विकास की मुख्य धारा

पर बड़ी सतर्क दृष्टि रखी है और बीच-बीच में आनाए जा सकने योग्य आग्रामांगिक विषयों को उपेक्षा करके वर्णन-संयम का सुंदर परिचय दिया है ।

(घ) रस-परिवर्तन

उपन्यास को घटनाओं का प्रवृत्ति से उनकी समाप्ति के संबंध में चतुर् पाठक आगो धारणा बना लेता है । यदि कथा-विकास इसके अनुकूल हुआ तब पाठक अपनी सूझ-बूझ से जितना प्रकुल्लित होता है, लेखक की वर्णन-कुशलता से उतना प्रभावित नहीं । परंतु यदि उपन्यासकार कथा की प्रगति के साथ-साथ उसी वातावरण के मध्य में अपने पात्रों को रखकर कोई ऐसी नवीन स्थिति सामने ला देता है जिससे कथा का अन्त तो पाठक की संभावना के प्रतिकूल अथवा भिन्न होता है, परंतु घटना की स्वाभाविकता और उपयुक्तता ज्यों की त्यों बनी रहती है, तब लेखक का कौशल पाठक को विशेष प्रभावित करता है । 'निर्मला' में ऐसे कई स्थल हैं जहाँ घटना का विकास, स्वाभाविक होते हुए भी, पाठक की आशा से भिन्न दिशा में होता है । रस-परिवर्तन करनेवाले ऐसे स्थल पाठक को विशेष प्रिय लगते हैं ।

बकील उदयभानु के मरने पर उनकी कन्या से आबकारी के आफसर भालचंद अपने पुत्र का विवाह करना निश्चय कर देनेवाले तर्क से अस्वीकार कर देते हैं और अन्दर चले जाते हैं । पाठक सोचता है कि पत्नी के पास ये गए हैं ; शायद वह पिघल जाय और विधवा समझिन पर ब्या कर दे । परंतु पति के मुख से यह झूठा वाक्य— 'कह तो दिया कि विवाह करना हमें मंजूर नहीं है; पर सारे संकोच के मुँह से शब्द निकलता था । झूठ-मूठ का होला करना पड़ा'—सुनते

ही उनकी पत्नी स्पष्ट उत्तर देती है—‘साफ-साफ कहने में संकोच क्या ! हमारी इच्छा है नहीं करते । जब दूसरी जगह दस हजार नकद मिल रहे हैं, तो वहाँ क्यों न करें’ । रँगिलीबाई के ये वाक्य पाठक की सारी अभिलाषाओं का अंत कर देते हैं और निर्मला के उद्धार की आशा उसे नहीं रह जाती । इसी समय भालचंद विधवा कल्याणी का पत्र उसे पढ़ने को देते हैं । पहली ही ‘पाती’ पढ़कर रँगिलीबाई की आँखें सजल हो जाती हैं और पत्र समाप्त होते-होते तो उनकी आँखों से आँसू बहने लगते हैं ।’ पाठक इस रस-परिवर्तन से सहसा चमत्कृत हो जाता है । रँगिलीबाई अब विवाह करने को तैयार है ; परंतु भालचंद अपनी बात पर डटे रहते हैं । अन्त में पत्नी एक कड़ी डाँट लोभी पति को बताकर शांत हो जाती है । कथा का निश्चित क्रम बनाए रखने के उद्देश्य से उक्त घटना को इससे अधिक परिवर्तित किया भी नहीं जा सकता था ।

मंसाराम के प्रति निर्मला के व्यवहार-परिवर्तन से भी रस-परिवर्तन का सुन्दर अदाहरण मिलता है । ‘सजल नेत्रों से विनय-मधुर स्वर में—मेरे कहने से चलकर थोड़ा-सा खा लो । तुम न खाओगे, तो मैं भी जाकर भूखी सो रहूँगी ।’ कहनेवाली निर्मला पति को सहसा आते देखकर कर्कश-कठोर स्वर में कहती है—‘मैं लौंड़ी नहीं हूँ कि इतनी रात तक किसी के लिए रसोई के द्वार पर बैठी रहूँ । ...कर क्या रही हूँ, अपने भाग्य को रो रही हूँ ।’ वात्सल्य की शांत और सरस वर्षा करने वाली निर्मला का यह स्वर-परिवर्तन पाठक को भी मंसाराम की तरह पहले तो स्तंभित, पर बाद को रहस्य समझने पर चमत्कृत कर देता है ।

गबन

सन् १९३० तक प्रेमचंद कई प्रसिद्ध उपन्यासों की रचना कर चुके थे। साहित्य में उनका उनका पद प्रतिष्ठित हो चुका था। वे उपन्यास-सम्राट् बन चुके थे। साहित्य-प्रेमी और उपन्यासों के पाठक उनसे बढ़ी-बढ़ी आशाएँ कर रहे थे। इसी समय सन् १९३१ में उन्होंने 'गबन' प्रकाशित कराया। इस उपन्यास का सम्बन्ध भारत के उस मध्यम वर्ग से है, जो आर्थिक संकट सहकर भी सामाजिक क्षेत्र में अपनी नाक बचाने के लिए ऋण लेने और फलस्वरूप अपना भावी जीवन दुःखमय बनाने पर विवश-सा हो गया है, पैशान का भूत जिसके सर पर सवार हाकर तरह-तरह के त्रास देता है और फलस्वरूप जिसका शरीर और मन बिना से जर्जर हो रहा है। वर्तमान समय की स्थिति ने पैसवाले को ही सुखी बना रखा है। इसलिए अच्छे और बुरे, उचित और अनुचित किसी भी ढंग से पैसा पैदा करना ही आज हमारा आदर्श हो रहा है। 'गबन' में हम देखते हैं कि ईमानदारी से पैसा पैदा करनेवाले व्यक्ति से उसकी स्त्री भी नाराज है, पुत्र भी नाराज है और पतोहू भी नाराज है। प्रसन्न सब लोग उसी से हैं जो भूट बोलकर, चालाकी करके, धूस लेकर अथवा और भी बाले व्यक्तियों को उल्टे छुरे से मूड़कर अधिक से अधिक धन कमा ला सकता है।

उपन्यास में उक्त निष्कर्ष तक हम परोक्ष रूप से पहुँचते हैं। प्रत्यक्ष कथानक कुछ और संकेत करता है। आभूषण चाहनेवाली एक नवयुवती इसकी नायिका है। बालिकाओं या नवयुवतियों के लिए आभूषणों की यह चाह नितांत स्वाभाविक है। जीवन में किसी वस्तु का अभाव हमें और भी उसको और आकर्षित कर देता है। उपन्यास की नायिका जानपा को भी जड़ाऊ हार को चाह इसीलिए बड़ गई कि वह उसे उसकी ससुराल से न चढ़ा। उसका पति रमानाथ शिक्षित है, युवक है, नई रोशनी का है और सच्चा प्रेमी भी है। अपनी सुंदर स्त्री के सामने अपने घर की दीन दशा कहते तो शरमाता है ही। साथ ही अपने ऐश्वर्य की झूठी कहानी गढ़कर उसे सुनाते भी नहीं हिचकिचाता। नववधू उसको बातों का विश्वास करके अपनी चाह प्रकट करती है। रमानाथ उसकी इच्छा पूरी करना चाहता है। पर, दफ्तर में वह एक मामूनी क्लर्क है; इसलिए अपनी बात रखने, अपने झूठे शान निभाने के लिए वह उधार गहने लाने पर विवश होता है। उधर उसकी नववधू का साथ एक धनी वकील की स्त्री से हो जाता है। रमानाथ अपनी शान निभाने के विचार से धनियों की तरह अपनी स्त्री का रहना घूमना, चाय-पानी करना सब कुछ स्वीकार करता है। अंत में ऋण न दे सकने के कारण उस पर इतने ऋण होते हैं कि उसका घर से बाहर निकलना मुश्किल हो जाता है। दो-एक ऐसी ही छल्टी-सीधी चालें चलने के बाद आफिस से गबन करके वह घर से भाग खड़ा होता है।

उपन्यास की कथा तो यहाँ से आगे बढ़ती है; परंतु रमानाथ का चरित्र यहीं समाप्त हो जाता है। जब तक हमारा पैर कीचड़ में नहीं पड़ता, हम अपने को उससे दूर रखना चाहते हैं। जब एक बार हम कीचड़ में फँस जाते हैं तब आगे भी हम उससे घृणा नहीं करते। रमानाथ भी अब बुराई से नहीं डरता। वह झूठ बोल सकता है, भीख माँग सकता है, निरपराधों को फँसा सकता है, वेश्या के हाथ की

कठपुतली बनने में उसे संकोच नहीं होता। लेखक ने भी अब उसे सँभालने की आवश्यकता नहीं समझी है। शायद वह चाहता है कि ऐसे युवक की जो बुरी से बुरी दशा हो सकती है, रमानाथ सब भुगत ले।

परंतु जालपा का चरित्र यहीं से उन्नत होता है। 'धीरज, धर्म, मित्र, अरु नारी, आपत्काल परखिए चारी।' वाली बात इसी स्थल से जालपा के सामने आती है। पति के घर से भागने के कारण का ज्योंही उसे पता चलता है, वह अपने शृंगर की सभी फैशनवाली चीजें गंगा में प्रवाहित कर देती है। यह हिंदू-नारी की एक झलक मात्र है। वह फैशन की चीजों पर नहीं मरती, अपने पति को चादती है। आरम्भ से उसे गहनों की चाह अवश्य थी; पति का सच्चा प्रेम पाकर वह पूर्णतः संतुष्ट हो गई थी और यदि रमानाथ ने अपनी कल्पित समृद्धि का अत्यंत आकर्षक चित्र न खींचा होता तो वह गहनों के लिए कदापि उससे अग्रह न करती। गबन में जो कुछ भूल हुई है, उपन्यासकार ने उसका दोषी रामनाथ को ही ठहराया है—उसकी नायिका सर्वथा निर्दोष है। फिर भी वह अपने कां हो दोषी समझती है और उसके प्रायश्चित्त के लिए कठोर से कठोर दंड स्वीकार करने को प्रस्तुत है। पति का पता लगाने और पुलिस के कठोर भयंकर और विषैले पंजों से उसे बचाने के लिए जिन-जिन युक्तियों से काम करके अपनी चतुरता का, अपने विवश पति की झूठी गवाही के फलस्वरूप चौपट हुए निर्दोष और कच्चे परिवारों की सभी प्रकार से सेवा करके जिस महान् सहनशीलता का उसने परिचय दिया है वह प्रेमचंद के श्रेष्ठतम उपन्यासों की नायिकाओं के लिए भी दुर्लभ है। जालपा के चरित्र की यही विशेषता है, जिसने 'गबन' को प्रेमचंद के श्रेष्ठ उपन्यासों में उच्च स्थान दिलाया है।

उपन्यास के अन्य पात्रों में जगो, रतन, जोहरा, रमेश और देवीदीन हैं। इनके चरित्र का चित्रण भी लेखक ने बड़े परिश्रम से

किया है और सभी विचारों और आदर्शों से हम थोड़ा-बहुत प्रभावित अवश्य होते हैं। परंतु इनमें सबसे प्यारा और आकर्षक चित्र देवीदीन का है। जाति का वह खटिक है। कभी-कभी वह नशा-पानी भी कर लेता है जिसके लिए उसकी स्त्री बराबर ताड़ना दिया करती है। परंतु आतिथ्य सत्कार की वह महान् भावना, जो भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता, समृद्धि तथा ऐश्वर्य की अधिकता की द्योतक है, सरलता और सत्याप्रयत्न की वह महान् भावना, जो भारतीय जीवन की नैसर्गिकता और पवित्रता की द्योतक है और निस्वार्थ देश-प्रेम को वह महान् भावना जो मातृभूमि के प्रति स्व-कर्तव्य पालन और ऋण-स्वाकृति की द्योतक है, उसके चरित्र को बहुत सुंदर बना देती है।

प्रश्न यह है कि प्रेमचन्द के ये पात्र क्या काल्पित हैं ? जीवन भर समाज और व्यक्त का गम्भीर अध्ययन करनेवाले प्रेमचन्द ने इन पात्रों की सृष्टि अपनी कल्पना द्वारा की है अथवा वे हमारे भारत के ही ऐसे प्राणी हैं जिन्हें हम अपने चारों ओर नित्य प्रति देखते हैं। हमारा सम्मति में रमानाथ, जालसा, देवीदीन, जग्गो और रतन नित्य प्रति हमारे सम्पर्क में आते हैं। वे अपने-अपने वर्ग के प्रतिनिधि हैं। रमानाथ के चरित्र में, सम्भव है, किसी का अस्वभाविकता मिले, और यह पूछा जाय कि पढ़ा-लिखा चतुर युवक कैसे एक के बाद दूसरी गलती करता और अपने पैर में कुल्हाड़ा भरता चला जाता है। वस्तुतः उसकी दशा उस भोले-भाले हिरन की सी है जो एक बार जाल में फँसकर जितनी ही उससे अपने छूटने की कोशिश करता है, उतना ही ललभता जाता है।

यही बात कथानक और उन सामयिक समस्याओं के सम्बन्ध में कही जा सकती है, जिनके विषय में 'गमन' के लेखक ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विचार किया है। सम्भव है, पुलिस के दण्डकों और कचहरी की कार्रवाई में कुछ बातें घटा-बढ़ाकर कही गई हों, परन्तु लेखक ने इनपर 'लगे हाथ' ही कुछ कह दिया है। वर्तमान समय में

यप वर्ग की स्थिति, अतिशय आभूषण-प्रेम, अनमेल विवाह, पैशन भून स्वदेशी आंदोलन आदि गभीर बातों पर हो लेखक ने कई छेड़ों से विचार किया है। इनका वर्णन अत्यंत मार्मिक, प्रभावोत्पादक और सजीव है। उपन्यास की सफलता का यही रहस्य है।

प्रेमचंद की भाषा की प्रांजलता, प्रौढ़ता और प्रवाहपूर्णता, शैली की उपयुक्तता, प्रभावोत्पादकता, और यथावसर परिवर्तन-शीलता तथा कथोपकथन की मार्मिकता, स्वाभाविकता और सजीवता के संबंध में हम कुछ कहने का आवश्यकता नहीं समझते। 'सेवाभदन', 'प्रेम भ्रम' और 'रंगभूमि'-जैसे उपन्यासों के प्रौढ़, कुशल और सफ़्त लेखक को इन बातों पर स्वतंत्र रूप से हो विचार होना चाहिए।

धारावाहक यह कि 'गबन' लेखक की सफ़्त रचना है। प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों से इसका कथानक भिन्न है, यद्यपि कहीं-कहीं सामयिक समस्याएँ पूर्व-उपन्यासों की भी अपना ली गयी हैं। विषय की प्रतिपादन-प्रणाली भी इस उपन्यास की भिन्न है। अन्य उपन्यासों में प्रेमचंद समुदाय को चले हैं और वर्ग की समस्याओं पर विचार किया है। 'गबन' की समस्या व्यक्तिगत है और एक परिवार तक ही संमित रहती है। यह ठीक है कि सशुद्ध मध्यम वर्ग आज पैशन, अति आभूषण-प्रेम और आर्थिक संकट से पीड़ित है; परंतु उपन्यास में हम केवल एक परिवार को ही इनका फल भोगते हुए देखते हैं। पूरे परिवार को भी नहीं केवल एक दशांत को ही। हाँ, जिन बातों को लेकर कथानक का विकास दिखाया गया है, वे सार्वजनिक और सार्वकालीन हैं। लेखक ने मानव-हृदय की अनेक भावनाओं—सुख-लालसा, ऐश्या को चाह, पति-पत्नी-प्रेम आदि का सुंदर विश्लेषण किया है। इसी से 'गबन' को हम हिंदी-उपन्यास की स्थायी चीज समझते हैं।

—प्रेमनारायण टंडन

‘गवन’ की प्रमुख समस्याएँ

‘स्वास्थ्य के नाम पर स्त्रियों की स्वतंत्रता का प्रश्न उठा कर भारतीय समाज को पाश्चात्य जीवन के अनुकरण के लिए आज का शिक्षित समाज प्रेरित कर रहा है। निश्चय ही स्वास्थ्य-रक्षा की समस्या जीवन में सबसे महत्वपूर्ण है और खुले संसार में घूमने देने से यदि उनका स्वास्थ्य सुधर सकता है तो हमारे समाज को दृढ़ छोड़ कर यह बात माननी ही होगी, चाहे अभी मानें या कुछ देर में, चाहे हँस कर माने या रोकर। वस्तुतः प्रश्न केवल खुले में घूमने का नहीं है। शिक्षित भारतीय युवतियाँ पाश्चात्य जीवन की वे सभी ऊपरी बातें अपनाती हैं जिनसे होने वाले अनेक लाभों की आकर्षक कहानी सात समुद्र पार करके उन तक पहुँचा है। ऊँची शिक्षा वे चाहती हैं और हमारा अनुमान है कि प्रत्येक समझदार व्यक्ति इसका समर्थन करेगा; परदा वे नहीं करना चाहती और हम समझते हैं कि इस कुप्रथा के प्रचलित होने का मूल कारण आज न रह जाने से इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं रह गई है; मनचीते युवकों-युवतियों से मिलने की पूरी स्वतंत्रता वे चाहती हैं और हमारी सम्मति में चरित्र और सतीत्व का मूल्य समझने वाली युवतियों को इसके लिए रोकना नितान्त अनुचित है; अपने सौंदर्य को अधिक आकर्षक बनाने के लिए लिपस्टिक, पाउडर-जैसी चीजों को वे काम में लाना चाहती हैं और हमें विश्वास है कि इस लालसा को नैसर्गिकता का ध्यान करके पुरुष-वर्ग इसका विरोध नहीं, स्वागत ही

करेगा ; नाच-सिनेमा, सैर-सपाटा, खेल-कूद, ललित साहित्य का पठन-पाठन आदि के द्वारा वे अपना मनोरंजन करना चाहती हैं और हमें पूरी आशा है कि विश्राम की आवश्यकता समझने और एक-न-एक उपाय से अपना मनोरंजन करनेवाला समाज इसके लिए भी ज़िम्मेदार को सदर्प अनुमति देना चाहेगा ।

आज की युवतियों की ये इच्छाएँ सर्वथा स्वाभाविक और उचित होते हुए भी पूरी नहीं हो सकीं और न निकट भविष्य में इनके पूर्ण होने की आशा ही है । इसके कई कारण हैं । सबसे प्रधान बात यह है कि नगरों में साठ प्रतिशत से अधिक व्यक्ति मध्यम श्रेणी के हैं जिनकी आय इतनी नहीं है कि फैशन, सजावट, मनोरंजन आदि के उन उपायों को अपना सकें जो विदेशों में अधिक सस्ते हुए भी भारत में अभी मँहगे पड़ते हैं । पाश्चात्य देशों में भी युवतियों के सामने एक दिन यह समस्या आई थी । वहाँ स्वतः धन पैदा करने की अनुमति पाकर यह प्रश्न हल किया गया । भारत में भी इस या इससे मिलते-जुलते किसी उपाय का सहारा जब तक नहीं लिया जाता, तब तक मध्यम वर्ग के परिवार में यदि पाश्चात्य रहन-सहन का आकर्षक और उत्तेजक ढंग अपना लिया गया तो स्त्री-पुरुष दोनों ही घाटे में रहेंगे । जालपा और रामनाथ का फैशन, रहन-सहन, मेल-मुलाकात, सैर-सपाटा, सभी कुछ उनकी हैसियत से बढ़ कर है । युवावस्था की उन्मादभरी अदूरदर्शिता ने उनकी आँखों पर और भी परदा डाल रखा है । रामनाथ का लुल, उसकी डींगें, उसका संकोच आदि चरित्र के दोष युवती जालपा को भी अंधकार में रखते हैं । फलस्वरूप आगे-पीछे की ओर से आँख मूँदे वे इतना आगे बढ़ जाते हैं जि जहाँ से लौटना रमा को असंभव प्रतीत होता है और अंत में वह घर से भाग खड़ा होता है ।

इस प्रकार जालपा के आभूषण-प्रेम की एक वर्ग-मुलभ विशेषता को समस्या-रूप में अगला कर प्रेमचंद कथा का विकाश करते हैं ।

बालकाल में यह आभूषण-प्रेम बालिका की महत्तम प्रकृति से संबंध रखता है ; परंतु युवावस्था में अपने रूप को अधिक दृश्यमान दिखाने की लुभावनी लालसा विशेष प्रयत्न के बिना सामने आती है । हाथ में पैसा है और दिल में जोश । खूब खुशखेली में काम किए जाते हैं । शृंगार के सारे सामान मजबूत हैं ; नाच-रंग, मेजा-तमशा, मिनेमा-गियेटर, सब शुरू हो जाता है । शहर के नामों मकानों के युवती पत्नी में मेज-जोल बढ़ता है ; पट्टियाँ म्म कागी और टो जाना हैं । यह सब किया जाता है उपर की उम्र आभूषणों के सहारे जिसके बल पर कई आभूषण घड़, माँहा आदि वस्तुएँ उधार खोदी गई थीं । शृंगार न चुकने पर तक जे होते हैं, पता से पता लगने पर टटकार पड़ता है । फिर भी सब बात अपना म्मा से खाली कर देते हैं उम्र सकांच होता है । अतः में रमा-नाथ के म्मने एक ही रास्ता खुला दिखाई देता है ; वह उमी पर चल देता है और पाछे फिर कर देखने की उसकी चाह का गला लज्जा और भय ने इस तरह दबा रखा है कि कौटुम्भी तो दूर चार-पाँच महीने तक वह एक पत्र भी लिखने का साहस नहीं करता ।

जालपा का जो आभूषण-प्रेम पारिवारिक जीवन के लिए महान विघात का कारण बनता है उसके लिए इस युवती को दोष देना युक्तिसंगत नहीं है । वस्तुतः गहनों की लिप्पा ने सर्वत्र नाग-समाज के हृदय में गहरी नींव का प्रकाश रखा है । 'गहन' के पहले ही परिच्छेद में मानका चंद्रहार पाक जीवन धन्य समझती है । बालिका जालपा अपना माता से यही आभूषण-लिप्पा ग्रहण करती है । उसका परचय रत्न से होता है । उम्र गहनों का इतनी चाह है कि तीन तीन जोड़ी कंगाने पहने पर भी जालपा के नए डिजायन पर रीझती है । रमा की माता रामेश्वरी का नए आभूषण देखकर संयम खो देना उसके लिए स्वाभाविक ही समझ जायगा ; क्योंकि बेनागी का लगभग पाँच हजार का चढ़ावा गृहस्थी के खर्च में ही समाप्त हो चुका है ।

देवीदीन को बुढ़िया का 'पेट भी गहने' से नहीं भरता; एक न एक गहना बूढ़ी हाने पर भी बनवाती ही रहती है। देवीदीन के शब्दों में सारांश यह कि सब घरों का यही हाल है। जहाँ देखो—दाय गहने, दाय गहने ! गहने के पीछे जान देदें, घर के आदमियों को भूखे मारें, घर को चीजें, और कहाँ तक कहूँ अपनी आबरू तक बेंच द। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सबको यही रोना लगा हुआ है—पृ० १४१—।

सत्य ही पारिवारिक जीवन की शांति का मीठा रस पान करके गहनों को विपैली लिप्मा जीवित रहती है। सास-ससुर धनी हैं, पर मेरे गहने न बनवा कर मेरी उपेक्षा करते हैं, केवल इस बात का अनुमान करके आभूषणों के लिए लालाधित जालपा उनका तिरस्कार करने को प्रस्तुत हैं, कहती है—वे मेरे हैं कौन, उनसे बताया ही क्यों जाय कि तुम्हारी (रमानाथ की) नौकरी कितने की लंगो है। हाँ, गहने पाने पर स्त्रियाँ प्रसन्न भी होती हैं। जालपा में, दो गहने पाकर सेवा-भाव का उदय होता है। वह पति के आराम की चिन्ता करती है; जिन चीजों के लिए रमा का घंटों भटकना पड़ता था, वे उसे तैयार मिलती हैं। वकील साहब की पत्नी रतन भी हार पाकर कृतज्ञता के भार से दब जाती है। पति उसका बूढ़ा है; उसकी आवश्यकताएँ बहुत सीमित हैं; वह उनके लिए अच्छी-अच्छी चीजें बनाती है। अस्तु

कथा-विकास में सहायक इस उपन्यास की दो प्रधान समस्याएँ हैं। एक, स्त्रियों का आभूषण-प्रेम और दूसरी, मध्यम श्रेणी के कम आय वाले नवदंपति की मनोरंजन के व्ययमाध्य साधनों में अनुभवहीन संलग्नता। उनका फैशन और विलास-प्रेम। देश की वर्तमान स्थिति में इन दोनों सामाजिक समस्याओं का कम महत्व नहीं है। प्रथम अर्थात् आभूषण-प्रेम का संबंध स्त्रियों के प्राचीन भारतीय गहन-सहन से है और द्वितीय का प्रचार अँगरेजी शिक्षा-प्रसार के साथ सारे भारत में हो गया है। जालपा का आभूषण-प्रेम उसकी बाल-प्रकृति से संबंध रखता है; क्योंकि वह ऐसे ही वातावरण

पत्नी है जहाँ गहने ही स्त्रियों के सर्वस्व हैं और पिता उसके खेल के लिए खिलौने न लाकर गहने ही लाते हैं। गाँव के संकुचित दृष्टि से बाहर निकल कर जब वह प्रयाग-जैसे प्रतिष्ठित नगर में रतन स्वच्छंद और धनी नारी के सम्पर्क में आती है तब उसका पश्चात्ताप, आभूषण-प्रेम, फैशन और विलासिता की अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और नवीन रुचि में, जिसका निकटतम सम्बन्ध अवस्था और शिक्षा संस्कृत समाज से है, परिणत हो जाता है। यह परिवर्तन नितांत स्वाभाविक और सामयिक है। आज की सी स्थिति बरहने पर मध्यम श्रेणी के परिवार का संबंध एक शताब्दी के लगभग चतुर्थांश तक इस समस्या से अवश्य बना रहेगा। इस दृष्टि से, समझते हैं कि 'गवर्न' की प्रधान समस्या महत्वपूर्ण है।

मध्यम वर्ग की समस्या का एक दूसरा पहलू भी है। आप नियमित परंतु अपर्याप्त आय में कठिनाता से परिवार का भरण-पोषण करके जीवन के दिन किसी प्रकार बिताना, स्वयं अच्छा खाने-पहने की इच्छा तथा प्राणप्रिय संतान को, बहुत छोटी-छोटी बातों के लिए जिसे मन मारना पड़ता है, खुशी देखने की स्वाभाविक लालसा निभाना, इस जीवन की कठण कहानी के ऐसे दृश्य हैं जो अपने परिवार में, चाहे हम कितने धनीमानी क्यों न हों, प्रतिदिन देखा करते हैं। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इस वर्ग का घनिष्ठ संबंध उस ठीक वर्ग से है अधिकांश अवसरों पर जिसमें सद्विद्या, योग्यता, बुद्धि यहाँ तक कि चरित्र में भी हीन होने पर केवल धनी होने के नाते ही मध्यमवर्ग से ऊँचे समझे जाते हैं। कुछ इस संबंध की मर्यादा के लिए और कुछ अच्छा खाने-पहनने, इन्हें करने की स्वाभाविक मानवीय प्रकृति के फलस्वरूप अपनी चादर अधिक पेर फैलाने पड़ते हैं। सामाजिक शिष्टाचार का ध्यान, जिस निवाहना नैतिक दृष्टि से प्रायः आवश्यक हो जाता है और वित्त बाहर हो जाने पर भी जिसका विरोध करने का साहस हमें

रोना, उनकी स्थिति को और भी दयनीय बना देता है। मध्यमवर्ग का मनुष्य यह सब कुछ समझ-बूझ कर भी नासमझ की तरह अपने को सुखी समझता है ; 'चरै हरित तृनबलि पसु जंसे।' प्रेमचंद ने इस उपन्यास में अपने ही बनाए गढ़े में इस वर्ग के प्रतिनिधि के गिरने की करुण कहानी कही है।

मध्यवर्गीय समस्या संबंधी एक और बात ध्यान देने की है। आज से पचास वर्ष पूर्व थोड़ी, पर नियमित आय होने पर भी लोग संतुष्ट थे और इस लिए उनके जीवन में सुख का अभाव न था। रहन-सहन इनका सीधा-सादा था और आवश्यकताएँ सीमित थीं। आडंबर से इन्हें चिढ़ थी और संगठित परिवार में प्रेम तथा सहयोग से जीवन के दिन ये बिताया करते थे। बुजुर्गों के देखते देखते उनके पुत्रों को अंग्रेजी शिक्षा ने नई गेशनी का बना दिया। नई चाल की लक्ष्मणीय विशेषता यह है कि निजी परिवार वालों के नाते को ठुकराकर परिचितों और मित्रों से संबंध जोड़ना, सहानुभूति दिखाना, प्रत्युत्तर की आशा करना और सैर-सपाटे, नाच-रंग, सिनेमा-थियेटर, चाय-पानी आदि के लिए निमंत्रित करना और होना अनिवार्य हो जाता है। परिवार के बड़े-बड़े भी, जो इन कामों को अपनी अर्थ-हीनता के कारण अनुपयुक्त समझते हैं, बड़े आदमियों से परिचय बढ़ जाने के लोभ से कभी-कभी इनका समर्थन करते हैं—बहुधा पार्टियों में सम्मिलित हो जाने में भी संकोच नहीं करते—और कुछ ऐसे परिचयों से लाभ उठाने की आशा लेकर इनमें भाग लेते हैं। सारांश यह कि मध्यमवर्ग के रहन-सहन में इस प्रकार के परिवर्तन का जो रूप हम व्यावहारिक जगत में देखते हैं उसी की छाया प्रस्तुत उपन्यास में मिलती है। रमा और जालपा का काशी के प्रतिष्ठित वकील की पत्नी रतन से डेल-मेल बढ़ाना, इस प्रसिद्ध व्यक्ति से परिचय के लोभ से दयानाथ का पार्टी में सम्मिलित होना और विफारिश कराने के उद्देश्य से रमेश बाबू का रमा को उत्साहित

करना, आज के जीवन का कितना सच्चा चित्र है !

नवीन सभ्यता के संबंध में दो अन्य संकेत लेखक ने किए हैं। प्रथम तो यह कि फैशन और विलासिता को जीवन का चरम लक्ष्य समझनेवाला पाश्चात्य रहन-सहन रतन जैसी उन नारियों के लिए है जिनका पति पर्याप्त धन कमा कर, मनमाने ढंग पर उड़ाने के लिए उन्हें दे सकता है और जो बिना किसी निश्चित उद्देश्य या कार्य के ही सब-कुछ खर्च करने के लिए तैयार रहती हैं। भारतवर्ष की वर्तमान परिस्थिति में हजार में सम्भवतः एक युवती को यह भौभाग्य प्राप्त होगा और शेष के लिए जीवन का यह रूप ईर्ष्या का ऐमा विषय बना रहेगा जिसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है और जिसका अभाव जो कुछ है उसे भी सुख-शांति से भोगने के लिए उत्साहित न कर सकेगा।

प्रेमचंदजी का दूसरा संकेत भी इतना ही स्पष्ट है। घर के संकुचित क्षेत्र से बाहर आकर पुरुष मात्र से निःसंकोच बात करने और स्थिति समझ कर अवसरोचित काम करने का साहस आज की युवतियों को आधुनिक शिक्षा अथवा शिक्षित युवतियों का अनुकरण करने की स्वच्छुद्धता ने ही दिया है। रमा के भाग जाने पर जालपा का आफिस जाना, सब बात समझकर चौक में आभूषण बेचना और आफिस का रुपया जमा कर देना आदि ऐसी बातें हैं जो घर के दरबे में बंद रहनेवाली युवती से नहीं बन सकती।

हिंदू-समाज की वैवाहिक समस्याओं पर भी लेखक ने परोक्ष रूप से अपने विचार प्रकट किए हैं। निर्धन परंतु शिक्षित रमानाथ की माता जागेश्वरी सोचती है—कोई यहाँ क्यों आने लगा ! न धन है, न जायदाद। लड़के पर कौन रीझता है। लोग तो धन देखते हैं—पृष्ठ ७। ऐसे विवाह में भाग्य पर विश्वास अधिक रहता है। 'प्रतिज्ञा' में प्रेमा की भाभी ऐसी स्थिति के विवाह की बुराई करती है। पढ़े-लिखे घर की खोजमें सभी माता-पिता रहते हैं; परंतु जालपा की सहेल

का पति, जो एम० ए० पास है, सदा रोगी रहता है। गेगी पति से स्त्री कैसे प्रसन्न रहेगी ? शिक्षा और धन के संबंध की घनिष्ठता से प्रायः आचरण पर प्रभाव आती है। जालपा की दूसरी स्त्री का पति, जो विद्वान भी है और धनी भी, वेश्यागामी है। रतन के मामा ने बूढ़े वकील के साथ उसको ब्यादा है। धन की रतन को कमी नहीं है। पति महोदय काशी के सबसे बड़े वकील हैं ; इसलिए सम्मान और प्रतिष्ठा की बात है। परंतु उसके जीवन का भविष्य नितांत अंधकारमय है, शून्य है; जालपा-जैसी उस स्त्री से भी वह गई-बीती है जिसका पति केवल तीस रुपया मासिक पाता है, घर से भाग गया है। घर में जिसका कोई आदर नहीं है और जिसके परिवार में धन-संपत्ति कुछ भी नहीं है। जालपा अपने पति से संतुष्ट है। वह मामूली पदा-लिखा है, बहुत मामूली घर है। सब काम-काज अपने हाथ से करना पड़ता है। यह सब कुछ होते हुए भी जालपा के संतोष का कारण यह है कि रमानाथ पत्नी से प्रेम करता है, सचरित्र है और स्वस्थ है। धन और विद्या न देखकर पुत्री के वा में केवल स्वास्थ्य और चरित्र ही देखा जाय, रमा और जालपा के वैवाहिक जीवन-परिचय से लेखक का यह संकेत मान सकते हैं।

अब आर्थिक समस्या को लीजिए। भारतीय समाज की वर्तमान अवस्था में सम्पत्ति-वितरण-सम्बंधों को विषमता दिखाई देती है उन का एक दुःखद परिणाम परोक्ष रूप से इस उन्न्यास में दिखाया गया है। जालपा एक सम्मिलित परिवार की बधू है जिसके पति को आमदनी थोड़ी है और जिसको खाने-पहनने की वे सभी सुविधाएँ और सुख प्राप्त नहीं हैं युवती पत्नी और युवक पति को प्रसुद्धि करने के लिए, विलास और आनंद के स्तर में उतर कर जो आवश्यकता की सीमा में आ जाते हैं। दूसरा घर वकील साहब का है जहाँ धन आने के सभी द्वार खुले हैं और युवती पत्नी रतन को सब-कुछ इच्छानुसार खर्च करने की पूरी स्वतंत्रता है। संपत्ति के अभाव और

आधिक्य दोनों का दुष्परिणाम उपन्यास में दिखाई देता है, सुखा के प्रति असंतोष और संपत्ति का अभाव जालपा को पति-सुख से वंचित कर देता है। और रतन के लिए पति की मृत्यु के पश्चात् संपत्ति की अधिकता परिवार वालों को ऐसा भयानक जंतु बना देती है जो पति-शोक से पीड़ित विधवा के सुख-साधनों को जीवित ही हड़प कर जाने में जरूरी भी संकोच नहीं करता।

सामाजिक जीवन में आज एक खटकनेवाली बात यह है कि अपने को सुखी, संतुष्ट या सम्मान-योग्य वे तब समझते हैं जब विदेशीपन की नकल निभा ले जाने में सफल होजायँ। कपड़े अच्छे पहनने का शौक होने पर हमें कोट-गतलून, टाई-नेकटाई चादिए, अपने साज-शृंगार के लिए हैजलीन, वैसलीन, क्रीम, स्नो और न जाने क्या क्या चाहिए तथा घर के लिए मेज-कुर्सी-कोच-टो सेट जैसी चीजों की जरूरत होती है। काशी के प्रसिद्ध वकील साहब-से बड़े आदमी से भेंट होने का अवसर आने पर दयानाथ और रमेश बाबू तीनों मकान को अँगरेजी ढंग से ही सजाने की बात सोचते, तय करते हैं और इस संबंध में लेखक का सुन्दर व्यंग है कि यह सारा हौसला और शौक पूरा किया जाता है माँगे के सामान के बल पर। किराए के कपड़े पहन कर मर्यादा-निर्माण और निर्वाह का यह ढंग कितना हस्यास्पद है ! और फिर भी हमारे समाज का मध्यम वर्ग इसे सहर्ष अपना रहा है, समझता है कि इसके बिना हमारा जीना असम्भव है, हमारा जीवन खोखला है, व्यर्थ है।

—प्रेमनारायण टंडन



गोदान

साहित्यिक प्रेमचंद का कोई क्रमबद्ध विकास न हुआ। 'सेवासदन' और 'सप्तसरोज' की सफलता वह बहुत दिन तक न दुहरा सके। प्रेमचंदजी शायद बेहद भावुक थे। एक बार जिस धार में पड़े, वह बहा ले गयी। उनकी कला का उनके ऊपर कठोर शासन कभी न हुआ, परस्पर क्रीड़ा-सी ही होती रही। 'प्रेमाश्रम' भी सजीव कृति थी, यद्यपि कला के ऊपर सिद्धांत का अधिक आधिपत्य था। 'गोदान' 'प्रेमाश्रम' की और भी याद दिला रहा है। दोनों के वातावरण में कुछ समानता अवश्य है। ग्राम्य जगत, दुखी, दारिद्र्यपूर्ण उदार मध्यवर्ग की ओर आशा भरे नेत्र चठाये। केवल 'गोदान' में बागडोर कला के हाथ में है। 'रंगभूमि' में प्रेमचंद ने अपनी सामर्थ्य से बाहर कार्य चठाया। सभी सन्नतिशील कलाकार एक बार ऐसा बीड़ा चठाते हैं।

सम्पूर्ण जीवन की गुत्थियाँ कोई एक उपन्यास में कैसे सुलझा दे ? यदि इस प्रयास में प्रेमचंद सफल हो जाते, तो विश्व-साहित्य के अमर-कलाकारों में उनका नाम अवश्य होता। 'कायाकल्प' में प्रेमचंद की कला ने अधोगति की नीची सीढ़ी छुई। यद्यपि इसके भी कुछ भागों में वही रस और सजीवता है। फिर प्रेमचंद उठते ही गये। 'निर्मला', 'गबन' और अब 'गोदान'। 'कायाकल्प' के बाद उन्होंने फिर पीछे मुड़कर नहीं देखा।

‘गोदान’ लिखने में प्रेमचंद की कला पूर्ण रूप से जाग्रत थी। बटनाओं पर, मानव-चरित्र पर, वही अटल अधिकार; भाषा में कुछ और भी रस और कविता का आभास आ गया है। ग्राम्य जीवन के प्रति कुछ अधिक उल्लास दीखा। जैसे हिन्दी की नवीन काव्य-धारा में कुछ वे भी रँग गये हों—‘फागुन अपने भोली में नवजीवन की विभूति लेकर आ पहुँचा था। आम के पेड़ दोनों हाथों से बौर की सुगन्ध बौंट रहे थे और कोयल आम में छिरी हुई संगीत का गुप्त दान कर रही थी।’ (पृष्ठ ३४८) और ‘महूर की डालियों पर मैनों की बारात-सी लगी बैठी थी। नीम और सिरस और बरौंदे अपनी महक में नशा-सा घोलते देते थे।’ (पृष्ठ ४०६) जीवन के हेमन्त में इस वृद्ध साहित्य-सेवी के हृदय में वसंत का यह गान कहाँ से फट निकला !

‘गोदान’ ग्रामीण जीवन का चित्र है।

प्रेमचंद आरंभ से ही ग्रामीणों के कलाकार रहे हैं। अपने जीवन तक को उन्होंने ग्रामीणता में रँग डाला था। भारत के ग्राम ही देश की प्राचीन विभूति हैं। यहाँ हमारे प्राचीन आदर्श और संस्कृति सुरक्षित हैं। किन्तु यहाँ दिनो-दिन निर्धनता, दुख और पीड़ा है।

प्रेमचंद के दृष्टिकोण पर महात्मा गाँधी का विशेष प्रभाव पड़ा है। कतु देसाई और प्रेमचंद ने पिछले आन्दोलन का वास्तविक रूप कल में अमर किया है।

नगर में विलास है, पाप है—ग्राम में सरलता है, महत्ता है, दुख है। गाँधी की भाँति प्रेमचंद ग्राम की ओर मुख मोड़े भारत के प्राचीन आदर्शों की रक्षा कर रहे हैं। पीठ पीछे समय सभ्यता, समाज अपनी अविरल तीव्र गति से निकले जा रहे हैं।

शरद बाबू ने भी अपने ‘पल्ली समाज’ में ग्रामीण जीवन का चित्रण किया है। उनका चित्रण कुछ और भी है। ग्रामों ने

अनाचार, पाप, क्रूरता, कुटिलता, धूर्तता भरी पड़ी है। यदि इस मृतक समाज का शीघ्र ही शव-वाह न हुआ, तो इसके विष से चारों ओर ही काल के कीटाणु फैल जायेंगे।

शरद् बाबू ने विशेष करके मध्यम श्रेणी के मनुष्यों का वर्णन किया है। प्रेमचंद छोटी जातियों के कवि और शिल्पी हैं। चरित्र-चित्रण में प्रेमचंद कुशल हैं ; किंतु शरद् बाबू के पात्र बढ़कर आकाश तक पहुँचते-से लगते हैं। 'गोदान' में उस जोड़ का केवल 'होरी' है।

ग्राम-जीवन के 'गोदान' में अनेक सुंदर चित्र हैं। उपन्यास का आरंभ ही एक ऐसे चित्र से हुआ है। होरी और भोला दोनों ही स्वभाव के सीधे हैं, किंतु दोनों ही एक दूसरे से पराजित होते हैं। पहिला परिच्छेद तो एक सुंदर गल्प है। ग्रामीणों के भाँड़े भी खूब होते हैं। छोटे कर्मचारी किस प्रकार ग्राम का शासन करते हैं, इसके अग्रणीत उदाहरण हैं। किंतु, प्रेमचंद का विशेष गुण है, ग्रामीणों की मनोवृत्ति की अच्छूक समझ। भविष्य में शायद भारतीय ग्रामों का इतिहास उनके उपन्यास और कहानियों से ही पढ़ा जाय।

पाश्चात्य देशों के उपन्यासकार सफल कहानी-लेखक नहीं होते। 'प्लॉट' पर उनका कुछ अधिकार ही नहीं होता। डिक्केन, स्काट, विक्टर ह्यूगो, बालजक तक इस विषय में दोषी हैं। उनके उपन्यासों का गौरव उनके पात्र होते हैं। किंतु, कहानी का जन्म पूर्व में ही हुआ—अलिफलैला, पंचरत्न, हितोद्देश, कथा-सरित्सागर।

रवि बाबू और शरद् बाबू दोनों ही चतुर कहानी-लेखक हैं। प्लॉट सहज ही ग्रीष्म की नदी की भाँति अविरल धारा में बहता है। इसी प्रकार प्रेमचंद भी कथा के अवयवों को किसी चीनी पहेली की भाँति उलझा-सुलझा सकते हैं।

'गोदान' में भी कथा का स्रोत अविरल है। किसी भी एक घटना में पड़कर प्रेमचंद खो-से जाते हैं। फिर बहुत दूर जाकर कथा का

अधिकार है। कभी ग्राम में; कभी नगर में, बड़े-बड़े रईसों में, दीन-दुखियों में उनकी कलना स्वच्छंद चकर लगाती है।

‘गोदान’ की कथा का क्या यही अंत है ? होरी की जीवन-लीला का अवश्य यह अंत है ; किंतु यहाँ क्यों, और आगे क्यों नहीं ? अभी तो उनको कलना सजीव थी। क्या मृत्यु का संदेश पाकर स्वयं उनको शक्तियाँ ढीली पड़ने लगी थीं ? इसी प्रकार गाल्सवर्दी ने अपनी मृत्यु के पहिले ‘क्वर दि रिवर’ लिखा था। चेस्टरटन ने लिखा है कि ‘पिकविक पेपर्स’ के किसी ने कुछ पृष्ठ फाड़ लिए हैं—ऐसा बालकपन में उनका विश्वास था। अब भी वे उन पृष्ठों को ढूँढ़ रहे हैं। क्या ‘गोदान’ के पृष्ठ भी काल ने फाड़ लिए ? अब भी किसी कलना के जग में मेहता, मालती, गोबर, सिलिया आदि क्रीड़ा कर रहे होंगे।

गाल्सवर्दी ने एक बार आक्सफोर्ड में आना वकव्य देते हुए बताया था कि किस प्रकार उनका कथा आगे बढ़ती है। वे एक आराम कुर्सी पर कागज लेकर बैठते हैं। मुँह में ‘पाइप’ रखते हैं। फिर उनकी कलना जाग्रत हो उठती है। उनका व्यक्तित्व पात्र में खोजा जाता है। यही शायद प्रेमचंद की कलना की भी गति है। होरी के विचारों में वे तन्मय-से हो जाते हैं। गोबर के मन में सावन के बादलों की भोंति विचार उमड़ पड़ते हैं।

इस शैली को अब ‘स्ट्रीम आब कान्शसनेस’ कहने लगे हैं। पाश्चात्य उपन्यास-कला में यह कथानक, पात्र आदि सब को ले डूबा है। इसके आचार्य फ्रायड आदि हैं। मनोविज्ञान के प्रेमचंद भी कुशल आचार्य हैं। इस प्रकार की ‘टेक्नीक’ में अच्छे कलाकारों से प्रेमचंद की तुलना हो सकती है।

गोदान एक प्रकार से ‘होरी’ की जीवन-कथा है। उसकी मृत्यु होते ही इस मंच पर पटाक्षेप हो गया। कथानक तक उसी के चारों ओर लिपटा है—जैसे रेशम के कीड़े के चतुर्दिक रेशम। ‘होरी’ का

ध्यान भारतीय साहित्य में ऊँचा होना चाहिए। वह जीता-जागता व्यक्ति है। उसके विषय में प्रेमचंद कह सकते हैं कि 'होरी' पर उनका कुछ वश नहीं, वे स्वयम् उसके वश में हैं।

प्रेमचंद के पात्र रक्त-मांस के व्यक्ति होते हैं, कठपुतली नहीं। टैसो ने कहा है कि ईश्वर के अतिरिक्त कवि ही विधाता है। प्रेमचंद के मात्र प्रगतिशील होते हैं; स्थिर नहीं—मालती, मातादीन, खन्ना। बड़े घर की बेटी' लिखते समय जो उनकी रचना में चमत्कार था, वह अभी तक बना था।

शायद मध्यवर्ग और उच्चवर्ग के पात्रों में प्रेमचंद उतनी सफलता न पा सके। इनको हम विलासी और अकर्मण्य ही पाते हैं। स्त्री का मन भी सदैव प्रेमचंद नहीं समझ सकते। प्रेम के दृश्य तो उनके असफल-से हैं। किंतु नीच ग्रामीण का हृदय भारत में गाँधी को छोड़कर प्रेमचंद के बराबर कौन समझ सका है ?—होरी, भोला, गोबर, धनिया, सिलिया।

होरी में अनेक अवगुण हैं—भारतीय किसान की स्वार्थपरता, रसिकता, धनलिप्सा। अपने भाइयों को धोखा देकर वह बॉस के रूप में खा जाना चाहता है; किंतु स्वयं धोखा खाता है। यदि प्रेमचंद उसे आदर्श और अवगुण-रहित बना देते तो होरी का कला की दृष्टि से इतना महत्त्व न होता। ऐसे जीव पृथ्वी पर नहीं-से होते।)

पहिले परिच्छेद में ही वह भोला को ठगना चाहता; किंतु उसकी सदारता उसके स्वार्थ पर विजय पा लेती है। जितने त्याग से यह ग्रामीण दंपति मुलिया, सिलिया और पुनिया का निर्वाह करते हैं, वह बड़े-बड़ों को आदर्श स्वरूप है। होरी रसिक भी है, भावुक भी है। सहुआइन से भी दौड़छाड़ कर लेता है। गाय के लिए कितना व्याकुल हो जाता है ! ग्राम्य जग में वसंत-भी देखकर गुनागुना

हिया जरत रहत दिन रैन ।

ग्राम की डरिया कोयल बोले, तनिक न अग्रत चैन ।

ग्रे की 'एलेजी' का स्मरण हो आता है कि यही व्यक्ति समाज का सहारा पा क्या हो सकते थे ! अब तो जीवन की 'हल्दोघाटी' में उन्होंने सउ कुड़ खोकर अपनी मान-मर्यादा और उदारता बचा ली, यही उनकी भारी विजय है ।

दानादीन, नोखेराम, परमेसरो, भिगुरी आदि गृध्र को भौंति इस कृपण-समाज के चारों ओर में सबको नोचे खाते हैं । मानादीन का चरित्र कला की दृष्टि में सुंदर है । यह निर्मम, कठार स्वार्थी, लोलुप युवक धीमे-धीमे बदलकर सिलिया का नर सकल कर देता है । गोबर अलहड़, सीधा नगर के प्रकाश में आकर्षित होकर उबर दोड़ता है, किंतु हाथ कुछ भी नहीं लगता ।

ग्राम के स्त्री-समाज के कुछ अच्छे चित्र उतरते हैं—धनिया, भुनिया, सिलिया । बादाम की भौंति धनिया ऊपर से कठार, पर हृदय की कोमल । भुनिया समाज की दुर्व्यवस्था का शिकार—सिलिया जाति की चमार होने पर भी आदर्श सती !

ये ग्राम की स्त्रियाँ लड़ती भी खूब हैं—धनिया और पुनिया का महासमर । फिर धनिया और भुनिया का जब रणचंडी हुँकार कर उत्तेजित हांती है तो दारोगाजी तक के देवता भागते हैं । किंतु, प्रेमचंद के पात्रों के नाम कैसे चित्र हैं—धनिया, पुनिया, गोबर ।

जिस प्रकार भुनिया गोबर से और मालती मेहता से प्रेम की बात करती है, वह अस्वाभाविक-सी लगती है । किसी भी देश और समाज में स्त्री इस प्रकार अपना संकोच नहीं त्यागती ।

मध्यम वर्ग से प्रेमचंद को कुछ सहानुभूति नहीं । यहाँ उन्हें खजा, तंखा और रायसाहब ही अधिक मिलते हैं—भिर्जा, खुर्देश कम । केवल खुर्देश ही परीक्षा में पूरे उतरते हैं । उनके मन की उदारता और जिन्दादिली कभी नहीं खाती ।

मेहता अनुष्य नहीं. आदश दानव है। उनमें कुछ दोष ही नहीं।
 भी प्रकार रिचर्डसन ने एक बार-सर चार्ल्स ग्रैडसन का चरित्र गढ़ा
 ।। अभी तक उसको दानव कहते हैं। मेहता को सृष्टि उस अनुभूति
 नहीं हुई, जो होरी और भोला को सजीव बना देती है। स्त्री-
 गान्धोलन पर मेहता के विचार रूढ़ि-वद्ध हैं। किंतु जिस प्रकार वह
 मालती की परोक्षा नेते हैं, वह अपमानजनक और अमानुषिक है।

मध्यवर्ग का स्त्रियों में मिसेज खन्ना और मालती दो के ही पूरे
 चित्र हैं। मिसेज खन्ना प्राचीन आदर्शों पर गढ़ी है। धीरे-धीरे
 मालती के कारण मालती भी उन्नी ओर झुक जाती है। मालती को
 उत्तेजित करने के लिये कथानक में प्रेमचंद एक जंगली लड़की को
 लाते हैं। यह भाँकी सुंदर है। यदि फिर भी जंगली लड़की दिखती
 । पाठक कृतार्थ होते; किंतु प्रेमचंद उसको भूल गये यह उसी
 काग की घटना है, जैसे टाम जोन्स के कथानक में 'दि मैन आन
 द हिल'। क्या कोई स्त्री ईर्ष्याविश भी ऐसी संकोचरहित बातें कर
 सकती है, जैसी मालती ने कहीं? कभी-कभी मन में संदेह उठता है
 कि प्रेमचंद स्त्री-हृदय समझते भी हैं या नहीं? किंतु, मिलिया और
 निया भी तो उन्हीं की सृष्टि हैं।)

इस वातावरण में सोना और रूपा के चपहार के लिये हम प्रेमचंद
 कृतज्ञ हैं। इस कलह और पीड़ा-भरे संसार में इस रूप के अनुगम
 र्शन में नेत्र कृतार्थ हुए। जगत के कोलाहल से दूर, कल्पना के
 सार में ऐसे प्राणी संगीतमय गति में विचरते हैं। इस बाल-सुलभ
 रलता और चपलता में सुधा का सा स्वाद है।

जीवन के प्रति प्रेमचंद का दृष्टिकोण क्या है? जान-बूझकर
 ही; किंतु अनजाने में ही कलाकार अपने युग—कभी-कभी समस्त
 गों—और संसार के लिये एक सन्देश लाता है—उसकी कृति में
 निहित होता है।

गलत है। जो गरीब वे और भी गरीब होते जा रहे हैं ; जो अमीर हैं वे और भी अमीर। किसान कर्ज के बोझ से पिसा जा रहा है। जो समाज के स्तम्भ हैं, उनमें कूट-कूटकर दुराचार, कठारता, लाभ और कपट भरे हैं। हरिजनों पर समाज का क्रूर शासन है। नगरों में विलास और विनोद है—सौन्दर्य और स्वच्छता नहीं। ग्राम में ही प्रकृति ने पूरा साज सजा है। ग्राम को आर लीटो प्राचीन आदरों को आर लीटो। स्त्री गृह-देवी हा, पुरुष बलवान और निष्ठावान ही।

(गोधा प्रेमचंद के आचार्य हैं। उनका हितात्मक वास्तविकता से कुछ दूर है। शायद प्रेमचंद ग्राम्य जीवन का उदार चरित्रवान और उदार हृदय कर्मचारियों में देखते हैं। क्या मनुष्य-स्वभाव भी बदल सकता है ?)

इस रोग की दवा कुछ भी हो, रोग प्रेमचंद खूब समझते हैं। उपचार भी कुछ न कुछ निकलेगा ही। कलाकार के लिए आवश्यक नहीं कि 'अमृतधारा' जैसी सब रंगों की कोई एक ही दवा वह निकालकर रख दे। वह तो रोग की व्याख्या ही ठीक कर दे। शायद मेहता का दृष्टिकोण प्रेमचंद का स्वयं अपना भी है। मेहता का वह जितना आदर्श बना सके हैं, बनाया है।

सब कुछ पद चुकने के बाद और आत्मवाद तथा अनात्मवाद की खूब छान-बीन कर लेने पर, वे इसा तत्व पर पहुँच जाते थे कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के बीच में जो सेवा-मार्ग है, चाहे उसे कर्मयोग ही कहो, वही जीवन को सार्थक कर सकता है, वही जीवन को ऊँचा और पवित्र बना सकता है। किसी सर्वश ईश्वर में उनका विश्वास न था। यद्यपि वह अपनी नास्तिकता को प्रकट न करते थे, इसलिए कि इस विषय में निश्चित रूप से कोई मत स्थिर करना वह अपने लिये असम्भव समझते थे ; पर यह धारणा उनके मन में दृढ़ हो गयी थी कि प्राणियों के जन्म-मरण, सुख दुःख पाप-पुण्य में कोई ईश्वरीय विधान नहीं है। उनका ख्याल था कि मनुष्य ने अपने अहंकार

अपने को इतना महान बना लिया है कि उसके हर एक काम को पर ईश्वर का ओर से होना है। इसी तरह वे टिड्डियाँ भी ईश्वर उत्तमदायी ठहराती होंगी जो अपने मार्ग में समुद्र आ जाने पर भी क' सख्य में नष्ट हो जाती हैं।

प्रेमचंद का उनकी भाषा के कारण सर्वत्र मान हुआ। उनकी भाषा सरल, स्वाभाविक, मुहाविरेदार होती है। ग्राम्य जीवन के वर्णन उसमें एक नवीन स्फूर्ति आ जाती है। आजकल कुछ बलाकार पा में बनावटी सरलता लाने का प्रयत्न करते हैं। कुछ काव्यमय, रूढ़ और जटिल तक हो जाते हैं। प्रेमचंद ने अब तक अपना बौद्ध स्वाभाविक पथ लिया था। किंतु इस बार उनकी भाषा में एक रस, लचक और यौवन-मा आ गया है। एक उदाहरण लिये - वैवाहिक जीवन के प्रभाव में लालसा अपनी गुलाबी मादकता साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य सुनहरी किरणों से रंजित कर देती है। फिर मध्याह्न का प्रखर ताप आता है क्षण क्षण पर बगोले उठते हैं और पृथ्वी कौंपने लगती है लालसा का सुनहला आवरण हट जाता है और वास्तविक अपने न रूप में सामने आ खड़ा होता है। उसके बाद विश्राममय संध्या होती है, शीतल और शान्त, जब हम थके हुए पथिकों की भाँति दिन यात्रा का वृत्तांत कहते हैं और सुनते हैं, तटस्थ भाव से, मानो किसी ऊँचे शिखर पर जा बैठे हैं, जहाँ नीचे का जन-रव हम तक पहुँचता। (पृष्ठ ४६)

संस्कृत में कालिदास की उपमाएँ प्रसिद्ध हैं। रवि बाबू की कहानी उपन्यास पढ़ने में उनकी उपमाओं का रस कुछ अपूर्व ही मिलता। उपमा से लेखक की पहुँच और सरलता का पूरा अन्दाज होता है। 'गोदान' में प्रेमचंद की उपमाएँ और उनके रूपक पुस्तक एक भारी महत्व हैं। मन में एकदम प्रकाश-सा कर देते हैं और यत्ना को उत्तेजित कर देते हैं। होरी के घर जब अनजान पहुँचा—

‘रुकी हुई गरड़ी चल निकली । जल में अवरोध के कारण जो चक्र, था, फेन था, शोर था । गति की तीव्रता भी वह अवरोध के हट जाने से शान्त, मधुर-ध्वनि के साथ सम, धीमी एक रस धार में बहने लगी ।’ (पृष्ठ २३६) । होरी ने सब कुछ खोकर ‘हारे हुए मह’प की भाँति अपने को इन तन बंधे खेत के किले में बंद कर लिया था और उसे प्राणों की तरह बचा रहा था ।’ (पृष्ठ ५८८)

‘गोदान’ में प्रेमचंद ने उत्कृष्ट कलाकार के सभी गुण दर्शाये हैं । उनकी शैली प्रौढ़ है । पात्र सच्चे और सजीव हैं । ग्राम्य जीवन को वे खूब समझते हैं । उनकी रचना में गंभीरता है, सरसता भी है । ‘कायाकल्प’ के बाद जो उनका पतन हुआ था, उसका प्रतिकार उन्होंने कर दिया । अपने पुराने गौरवमय स्थान पर अब वे अटल हैं ।

—प्रकाशचंद्र गुप्त

२

‘गोदान’ श्री प्रेमचंदजी का नवीनतम अंतिम उपन्यास है । कहा जाता है कि प्रेमचंदजी सामयिक समस्याओं और आंदोलनों को अपना-कर नेताओं द्वारा परिचालित सुधारों को ही जनता के समुख उद्दिष्ट करते रहे हैं । इस दृष्टि में वे समय-समय पर राजनीतिक और सामाजिक नेताओं के एक साहित्यिक अनुयायी रहे । परंतु यह ‘गोदान’ तो एक और ही वस्तु है । इसमें वे न तो किसी के अनुयायी हैं और न किसी के प्रचारक ; बल्कि एक तटस्थ कलाकार हैं ।

उन्होंने विभिन्न प्रांनों की आंतरिक स्थितियों और मनोभावों को एक कुशल कलाकार की भाँति ही उपस्थित किया है, किसी पात्र-विशेष के मत को निजी राय देकर उसे एवच्छेद बनाने का प्रयत्न नहीं किया । इसी लिये, अच्छे से अच्छे पात्र को कमजोरियों और बुरे से बुरे पात्र की अच्छाइयों को प्रकाशित कर उन्होंने पाठकों को अपनी-अपनी समीक्षा और अपनी-अपनी विश्लेषण बुद्धि को जगृत करने का अवसर दिया है । बुद्धिभोजी और मनोविनोदी दार्शनिक मेहता, नयी

गेशनी में झिलमिलाती हुई, किंतु अन्ततोगत्वा सज्ज्वल दीपशिखा, नी स्थिरलक्ष्य कुमारी मालती, अमंयत पूंजीवति किंतु परिस्थितिवश प्रारम्भजागरूक मिस्टर खन्ना, बाणी में उदार किंतु अपनी रईसी आवश्यकताओं के बोझ में दबे हुए आत्मप्रबंधक जमींदार रायसाहब, गेरगीट की तरह रंग बदलनेवाले और रईमों के एजेंट मिस्टर तन्ना, पेंदी के लोटा खहरधारी ढोंगी सम्पादक ओंकारनाथ, फकड़ और मनमौजी भियाँ खुशेंद अलो, कर्मठ किंतु देहात के अत्याचारों से कैकटव्यविमूढ़ देहाती नागरिक गोबर, तथा इन पात्रों के अन्यान्य उपयोगी इस उपन्यास के सजीव प्राणी हैं। भारतीय जीवन के विस्तृत गमंच पर ये विविध प्राणी विविध दिशाओं में जा रहे हैं, उनके पीछे-छे एक अदृश्य चित्रकार की भाँति प्रेमचंदजी अपने अनुपम कौशल। उनके प्रत्येक पद-निक्षेप का चलचित्र आँकते जा रहे हैं। यदि वे तब स्वयं इन चित्रों को एक दृष्टि देख सकें, तो वे प्रेमचंदजी को मर्म-दिक्ता के सम्मुख नतमस्तक हो जायें। इन सम्पूर्ण पात्रों के ऊपर, होन का वह धर्मवीर किंतु उद्यमी किसान 'होरी'—जो परिस्थितियों के ठार से कठोर आवात खाकर भी अंनिम क्षण तक कर्मशील है—क क्षीण धिन्दु की तरह शांभन है। निर्धन होकर भी वह स्वामिनी है, अशिक्षित होकर भी वह आत्मनिष्ठ है, आहत होकर भी एक हृदय जीवन-यात्री है। इसीलिये वह आद्यत एक महान् व्यक्तित्व। मनुष्य है।

प्रेमचंदजी ग्राम्य जीवन को चित्रित करने में निपुण हैं। इस उपन्यास में तो यह निपुणता उनकी अन्य सभी कृतियों से आगे है। हमें ग्राम्य प्रकृति, ग्राम्य जीवन और ग्राम्य मनुष्यों का ऐसी स्वाभाविक और बारीक निगाह से निदर्शन किया गया है कि प्रेमचंदजी की रीक्षणशक्ति और अनुशीलनशक्ति पर आश्चर्यमुग्ध हो जाना पड़ता। अब तक हमलोग ग्रामीण जीवन को एक राष्ट्रीय प्रश्न के रूप में लेते आये हैं, परंतु इस उपन्यास द्वारा हमें ग्रामीण जीवन के मानवी

(सामाजिक) मनोविज्ञान पर भी विचार करने का अवसर मिलता है ।

‘गोदान’ में यद्यपि स्थान स्थान पर विचारों की गूढ़ता भी है, तथापि इसमें अनेक सरस प्रसंग भी हैं, जो अपनी रोचकता से गूढ़ता के कठिन भोजन को सुपाच्य बना देने हैं । प्रेमचंदजी ने इसमें देहाती जीवन के अनिरिक्त, नागर्किक जीवन के भी जिन अनेक पात्रों को ग्रहण किया है, उनके अनुरूप इन गूढ़ और रोचक प्रसंगों का समावेश उपयुक्त हो सकता है, किंतु इस उपन्यास का बृहत् शरीर जिस देहाती जीवन के मेरुदण्ड पर खड़ा है, उसको प्रचुरता और विदग्धता को देखते इतर प्रसंग ‘क्षेत्र’ से लगते हैं ; इन क्षेत्रों के कारण ही उपन्यास स्थूलकाय हो गया है । यदि प्रेमचंद कहानी के किस्सा-कोताह में न पड़कर शरद बाबू की तरह कथा की सांकेतिकता से काम लेने तो ‘गोदान’ के अभीष्ट वातावरण तथा अभीष्ट पात्र को पाठकों के सम्मुख अधिक सुचारुता से उपस्थित कर सकते थे । यों भीड़ में मिले हुए मनुष्यों में हमें खोजना पड़ता है कि प्रेमचंदजी के इस उपन्यास का संकेत किधर और किनकी ओर है ?

सम्पूर्ण उपन्यास पढ़ जाने पर यह प्रश्न उठता है कि इस उपन्यास का प्रमुख पात्र हम किसे मानें ? जैसा कि कहा जाता है, प्रेमचंद एक आदर्शवादी कलाकार हैं ; हम ‘गोदान’ में किस आदर्श को ढूँढ़ें ? बुझे तो ऐसा लगता है कि प्रेमचंदजी ने ‘गोदान’ में किसी एक आदर्श तथा एक पात्र को प्रमुखता नहीं दी है, यद्यपि ग्राम्य जीवन के अधिक निकट होने के कारण उन्होंने ग्रामीण वातावरण, उसकी आवश्यकताओं तथा उसके प्रमुख व्यक्तित्व होरी को उन्होंने बड़ी सजीवता से साकार किया है । परंतु जान तो यह पड़ता है कि ‘गोदान’ में प्रेमचंदजी ने किसी एक व्यक्ति को परिपूर्ण आदर्श के रूप में नहीं, बल्कि कुछ विशिष्ट पात्रों को परिपूर्ण आदर्श के विभिन्न अवयव के रूप में उपस्थित किया है और वे पात्र अपने-अपने क्षेत्र के परिचित आदर्श हैं ; उन्हीं की समष्टि से पूर्ण आदर्श का स्पष्टीकरण होता है । उनका

कोई पात्र लोकनायक महापुरुष के रूप में नहीं बल्कि अनेक पात्र व्यक्तिगत 'मनुष्य' के रूप में हैं। समाज के व्यक्तिगत सौंदर्य के लिये वे आदर्श हैं। 'गोदान' में जो पात्र जीवन की ऊँची-नीची पगडंडियों पर अन्ततः अक्रान्तिगति से चले जा रहे हैं, वे हैं—होरी, धनिया, मानती, गोविन्द और खुर्दअली। इनके अतिरिक्त शेष पात्र जीवन की घाटी में एक प्रकार से परास्त से हैं। निदान, उक्त पात्र ही अपनी-अपनी दुनिया के आदर्श हैं—होरी किसानों में आदर्श है, धनिया ग्रामीण नारियों में, मानती नवशिक्षिता कुमारियों में, गोविन्दो सम्पन्न गृहिणियों में, भियाँ खुर्दअली खुशखुरम लोगों में। शतदल की भाँति जुड़े हुए इन व्यक्तित्वों की समष्टि में ही प्रेमचंदजी के आदर्श का परिपूर्ण आभास है। अर्थात् इन सब की विशेषताओं को लेकर समाज का सामाजिक जीवन है।

हाँ उपन्यास समाप्त करते-करते यह जान पड़ता है कि जिस रफ्तार से वह चला है, उसकी अपेक्षा अन्त कुछ शिथिल हो गया है, जैसे तेजी से चलती हुई ट्रेन स्टेशन पर आते-आते धीमी हो जाय; परंतु इससे उपन्यास की मनोरंजकता में अंतर नहीं आने पाया है। मनोरंजकता यह इतना है कि सौ कामों के बीच में भी इसे पढ़ने के लिये उत्सुकता बनी रहती है। और प्रेमचंदजी की मुहावरेदार भाषा का क्या कहना। उनकी स्वच्छ और सुंदर भाषा तथा स्थल-स्थल पर मार्मिक सूक्तियाँ हृदय को मुग्ध कर लेती हैं।

प्रेमचंदजी के अंतिम उपन्यास का नाम है—'गोदान' और उनकी कहानियों के अंतिम संग्रह का नाम है—'कफन'। पुस्तकों के इस नामकरण में उस स्वर्गीय साहित्यकार के साहित्यिक जीवन की टूटझड़ी की झलक मिलती है।

प्रेमचंदजी उर्दू के टकमाली साहित्य से निकलकर हिन्दी के विकासोन्मुख साहित्य में आये थे। इसका एक सुपरिणाम यह हुआ कि जिस प्रकार कोई रुढ़ि-बद्ध प्राणी ज्वीन वातावरण को अनिवार्यता

अपनाते हुए भी एक मर्यादा का ध्यान रखता है, उसी प्रकार प्रेमचंदजी उर्दू के किस्सा-कोतह से निकलकर आधुनिक युग के कथा-साहित्य से सम्बद्ध हुए थे। पूर्व संस्कार-बश उनमें जो सामाजिक मर्यादा का ध्यान था, उससे उनके कृतिव में एक गंभीरता आयी ; आधुनिक युग के प्रति उसमें जो प्रेरणा थी उसमें उनकी कला में एक शक्ति आयी और उर्दू की व्यञ्जना के कारण रोचकता। इस प्रकार प्रेमचंदजी अपने कलाकार रूप में प्राचीनता की अंतिम सीमा थे और नवीनता के आदि-निर्देशक भी।

प्रेमचंदजी के लिये केवल राजनीति, केवल समाज, केवल गार्हस्थ्य, वर्तमान युग की प्रगति को देखते हुए अपने में पूर्ण नहीं ; ये परस्पर सम्बद्ध होकर ही पूर्ण हैं। किंतु इस त्रिकोण का केंद्र गार्हस्थ्य जीवन है, समाज और राजनीति का विस्तार इसी केंद्र के लिये है। यह ठेठ भारतीय दृष्टिकोण है। पश्चिम का दृष्टिकोण इससे पृथक् है, वहाँ राजनीति ही केंद्रबिंदु है। यह विचार हमारे देश में भी आ गया है। अतएव उसकी गौणता मिट्ट करके जिनसे प्रेमचंदजी ने उसे इस त्रिकोण में सम्मिलित किया है। अन्यथा प्रेमचंदजी गार्हस्थ्य और उसके सार्वजनिक रूप (समाज) के ही चित्रक हैं। पश्चिम का सार्वजनिक रूप राजनीति है, तो हमारे यहाँ समाज। दोनों ही सार्वजनिकताएँ गार्हस्थ्य की ओर जाती हैं। किंतु राजनीति अशांति लिये हुए और समाज स्नेह-सौहार्द लिये हुए। प्रेमचंदजी यही दिखलाना चाहते हैं।

उनके चित्रण को हम एक नकशे के रूप में देव सकते हैं। उसमें मनोवैज्ञानिकता सूक्ष्म संकेतवत् है और भाषा प्रसंगानुकूल विविध वर्णान्ध्रुटा लिये हुए। हम कह सकते हैं कि प्रेमचंदजी छाया-चित्रकार नहीं, बल्कि नकशानवीस हैं। साहित्यिकी की अपेक्षा वे जनता के साहित्यकार हैं और जनता को जानने के लिए हमें प्रेमचंदजी के नकशों को देखना ही पड़ेगा।

—शांतिप्रिय द्विवेदी

‘गोदान’ आधुनिक भारतीय जीवन का दर्पण है। यह सामान्य और मध्य-वर्ग की समस्याओं को लेकर चला है। प्रेमचंदजी ग्राम्य जीवन को चित्रित करने में कैसे सिद्धहस्त थे यह विसी से छिपा नहीं है ; पर आज के किसान और मजदूर के दारिद्र्य और परदश जीवन को बिना जमींदार और मिल-मालिक के कारनामों के नहीं समझा जा सकता ! पटवारी, सूदखोर, पुलिस, जो जमींदार और मिल-मालिक की पंक्ति में ही किसान के जीवन पर जोंक की भाँति काम करते हैं, उनके बिना उसकी दयनीय दशा का ठीक स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। इसी से ‘गोदान’ की कहानी भी एक किसान की ज़िन्दगी को लेकर चली है जिसके चारों ओर मध्य वर्ग का जीवन भी घूमता है। सामान्य किसानों के सब गुण-अवगुण उसमें उसमें विद्यमान हैं। किस प्रकार अपनी परिस्थितियों और संस्कारों से पिस्तुत हुआ वह दारिद्र्य प्रगुणी करुण मृत्यु प्राप्त करता है, किस प्रकार सभी का पेट भरता हुआ वह स्वयं अपने जीवन की किसी सामान्य इच्छा को पूर्ण करने में असमर्थ रहता है, यही सब कुछ दिखाना ‘गोदान’ का लक्ष्य है।

इस उपन्यास का प्रमुख पात्र है होरो। वह भारतीय किसान का प्रतिनिधि है। प्रारम्भ में ही उसे जमींदार की खुशामद करनेवाला व्यवहार कुरान पुरुष चित्रित किया गया है। उसके जीवन की मचमे बढ़ी साध है गऊ से द्वार की शोभा बढ़ाना और प्रातःकाल उसके पुण्य दर्शन कर कृतकृत्य होना। मनोविज्ञान के दो सामान्य नियम — सद्गानुभूति और प्रशंसा — के मूल्य को वह जानता है। सद्गानुभूति दिखाकर वह भीला से गाय झूटने में समर्थ होता है और गुणों की प्रशंसा करके वह अपनी स्त्री धनिया को स्वयं की बात पर राजी करता है कि वह भीला को भूसा देने में आनाकानी न करे। सबसे

अधिक उसकी दरिद्रता दर्शनीय है। जमींदार से मिजने जा रहा है ; पर उसकी मिर्जई तक फटी हुई है। इसे भी घनिया ने पाँच लाख हुए जबरदस्ती बनवा दिया था। उसके पास एक कंबल था जो उसके जन्म से भी पहले का था। यह दरिद्रता उसके अलस्य के कारण नहीं, कर्ज के कारण थी। बिसेसरसाह, दुलारी, मँगरूसाह, किंगुरीसाह, नोखेराम, पं० दातादीन सभी का वह देनदार। उसका अनाज खलिहान में ही तुल जाता है। कुछ जमींदार लेता है, कुछ महाजन। कर्ज से उसे कभी छुटकारा नहीं मिलता। इस दरिद्रता में वीरी उसकी हृदय की उदारता सराहनीय है। यह जानते हुए भी कि उसके भाई हीरा ने गाय को विष दिया है, हीरा के भाग जाने पर संकट के दिनों में वह उसकी स्त्री पुनिया की देख-भाल करता है। पुनिया को घर में आश्रय देने से वह भोला का बुरा बनता है और गाँव के पंचों को दंड देता है जिसके कारण वह संकट में पड़ जाता है ; पर पुनिया को आश्रयहीना नहीं छोड़ता। इसी प्रकार सिलिया चमारिन का भी, जो मातादीन की प्रेमिका है, उसके द्वारा बुत्कारे जाने पर होरी के घर में ही स्थान मिलता है। उसका भ्रातृ-प्रेम भी सराहनीय है। अपने भाइयों के घर अलग करने पर उसे अपार वेदना हुई थी। चौधरी और पुनिया के झगड़े के समय उसका खून जोश मारता है और वह चौधरी को भला-बुरा कहता है। होरी को गाय देखने जब बब आते हैं और उसके भाई हो नहीं आते तो उसे बड़ी चिंता होती है। यह भ्रातृ-प्रेम यहाँ तक बढ़ा हुआ है कि होराका नाम लेने पर, जो गाय को विष देने का दोषी है, होरी घनिया को पीरता है और गोबर के माथे पर हाथ रखकर झूठ कहता है कि उसने हीरा को नौद के पास नहीं देखा। आदर्श दृष्टि से उसके जीवन के दू कृत्य निंदनीय भी हैं—एक चौधरी बैसोर को बाँध बेचते समय भाव में लड़बड़ करना और दूसरा रूपा के विवाह में २००) लेना, जो एक प्रकार से लड़की बेचना है ; पर ये दोनों कृत्य दरिद्रता की विवशता

से उत्पन्न हुए हैं। इतना सब कुछ होने पर भी होरी के जीवन में जो सरसता बनी हुई है, वह है उसमें मनोविनोद की भावना के कारण। घनिया को वह पीट तक लेता है; पर क्षण भर में ही दोनों किसी बात पर हँस लेते हैं। दुलारी सहुआइन को देखकर तो उसकी चुटुल की वृत्ति सहसा उभर पड़ती है और उसे भाभी कहकर जो मन में आता है कह लेता है। ऐसे प्राणी की मृत्यु पर एक गाय भी दान करने के लिए न हो, इससे अधिक जीवन की विडंबना क्या हो सकती है !

घनिया का चरित्र होरी के चरित्र से चिपटा हुआ है। सामान्य नारी की भाँति अपनी प्रशंसा पर मुग्ध होने की दुर्बलता उसमें भी है। भारतीय नारी की भाँति अपने दुःख में वह अपने पति को सदैव संगिनी रही। उसे माता का हृदय प्राप्त है। इसीसे वह भुनिया को अपने घर में आश्रय देती है और आगे चलकर गोबर के लड़के को स्नेहपूर्वक स्मरण करके तड़प चूठती है। उसके व्यंग्य बड़े तीखे होते हैं जिनसे होरी भी घबड़ाता है। उसकी सबसे दुर्बलता यह है कि उसमें वाक्-संयम नहीं है। इसी कारण वह कभी-कभी मार भी खाती है। सोना के विवाह के समय उसने कुल-मर्यादा का झूठा राग अलापकर अदूरदर्शिता का परिचय दिया।

होरी और घनिया के अतिरिक्त कुछ दूर तक चलनेवाले सामान्य-वर्ग के चरित्रों में गोबर-भुनिया एवं मातादीन-सिलिया के चरित्र हैं, तथा मध्य-वर्ग में मेहता-मालती और खन्ना-गोविंदो के। गोबर के घर आने के पूर्व भुनिया का स्वभाव खासा चटपटा था। वे दोनों गाँव के रोमांस का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। गोबर अपनी अदूरदर्शिता से मारा-मारा फिरा। पहले वह मिर्जा के यहाँ नौकर हुआ, फिर खन्ना के यहाँ और फिर मालती के यहाँ। लखनऊ में रहने से उसके रहन-सहन और बुद्धि में परिवर्तन होता है। नकल द्वारा यद्यपि गाँववालों की आँखें खोलने में वह सहायक हुआ,

पर अपने पिता की स्थिति न सुधार सका । इस बात का खेद उसे बराबर बना रहता है । वह चाहता तो माता-पिता के जीवन को सुखमय बना सकता था, पर ऐसी दशा में उपन्यास का प्रभाव भिन्न प्रकार का होता ।

मातादीन तक ढोंगी, बगुला-भगत, गुण्डा ब्राह्मण है । वह बाहर से ब्राह्मण है और भीतर से चमार । रहन-सहन, खान-पान में विचार करता है पर चमारिन को अपनी स्त्री बनाकर रखता है । अवकाश मिलने पर अकेले में किसी का भी हाथ पकड़ सकता है । चमारों ने उसके मुँह में हड्डी देकर उसकी धूर्तता का उचित दंड दिया है । कुछ दिन उसने सिलिया के साथ रूखा व्यवहार किया, पर बाद में अपने लड़के की मृत्यु पर उसका स्नेह उमड़ पड़ा और फिर आजीवन वह सिलिया के साथ रहा । पुनर्मिलन के समय सिलिया ने पूछा था कि एक चमारिन के साथ तुम ब्राह्मण होकर कैसे रहोगे ? उस समय मातादीन ने उचित ही उत्तर दिया था—“जो अपना धर्म पाले वही ब्राह्मण है, जो धर्म से भुँड़ मोड़े वही चमार है ।”

स्त्री-पात्रों में हमारा सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करती है मिस मालती । उपन्यासकार के शब्दों में वे नवयुग की साक्षात् प्रतिमा हैं ।” मिस्टर खन्ना को जो मालती के रूपा पर मुग्ध थे उसने काफी दिन उल्लू बनाया और वह प्रत्यक्ष दो खन्ना-गोविंदों में कलह का कारण हुई । यदि मेहता बीच में न आए होते तो गोविंदों के जीवन का अंतकुरुण ही होता । रायसाइब की पार्टी में जिस दिन मेहता ने अफगानी का हृदय हिलानेवाला अभिनय किया उस दिन मालती उनपर मुग्ध हो गई । यह आकर्षण बढ़ता ही गया और अन्त में निर-मिश्रता में परिणत हुआ । मेहता से प्रेम के कारण ही शिकार के समय उसने एक काली जंगली लड़की के प्रति भी ईर्ष्या-भावना प्रकट की थी । काली लड़की ! निस्वार्थ सेवा-भावना और आत्म-गौरव की प्रतिमूर्ति ! मेहता ने बहिन कहकर हमारा सन्देह दूर

कर दिया, नहीं तो मालती को प्रतिद्वंद्विनी बनने की क्षमता उसमें थी। मुझे डर है, वह उपेक्षित किसी मैथिलीशरण का मर्मस्पर्श न कर दे। खैर।

मेहता के सम्पर्क में आकर मालती में सुधार होता है। उसकी बाह्य चंचलता आंतरिक गम्भीरता में परिवर्तित हो जाती है और जब वह अपने जीवन का आनंद गाँव के लोगों के प्रति सहानुभूति दिखाकर प्राप्त करती है, तब तो उस पर आश्चर्य ही होता है। एक हृद चरित्रवान पुरुष के सम्पर्क में आकर तितली देवी हो गई।

मेहता एक हृद पुरुष के प्रतीक हैं। मनुष्य को वे प्राकृतिक रूप में देखना चाहते हैं और जीवन को आनंदमय बनाने के पक्षपाती हैं। नारी के विषय में उनका आदर्श ऊँचा है। आदर्श नारी को ही वे आदर्श पत्नी समझते हैं। इसी से गोविंदी को वे भ्रष्टा की दृष्टि से देखते हैं। इसी भ्रष्टा की प्रेरणा से मेहता ने गोविंदी के पति खन्ना को मालती के प्रभाव से मुक्त किया। यद्यपि वे अनीश्वरवादी थे, पर सेवा-धर्म में विश्वास रखते थे। मालती में परिवर्तन उनके शुभ संयोग के कारण ही था। सब कुछ होकर भी ये वे फिलासफर ही। गृह-प्रबन्ध में वे असफल थे; इसी से वे एक हजार रुपये महीना कमाने पर भी खाली हाथ रहते। यहाँ मालती उपयोगी सिद्ध हुई। मालती के हृदय में जो उनके प्रति स्निग्धता थी उसने मित्रता मित्रता का रूप ग्रहण कर दोनों की आत्मा को सदैव के लिए मिला दिया।

‘गोदान’ में ग्राम्य जीवन का सफल चित्रण हुआ है। किसान के घर और बाहर के कई सुन्दर दृश्य उपन्यास में हैं। लू चल रही है, बगोले उठ रहे हैं, भूतल धक्क रहा है, पर किसान काम कर रहा है। दूसरे स्थान पर खलिहान के दर्शन करते हैं, तो कहीं मकई हो रही है, कहीं कोई अनाज ओसा रहा है, कोई गल्ला तौल रहा है। नाई, बारी, बढई, लोहार, पुरोहित, भाट, भिखारी सभी अपने-अपने

हक लेने के लिए जमा हो गए हैं। कोई आनी सवाई उगाह रहा है, कोई गल्ले का भाव-ताव कर रहा है। यदि किसान का घर देखना हो, तो सोना के पति मथुरा का आँगन देखना चाहिए। एक कोने में तुलसी का चबूतरा है, दूसरी ओर जुआर के ठेठों के कई बोझ दीवार से लगाकर रखे हैं। बीच में पुआलों के गट्टे हैं। समीप ही ओखल है जिसके पास कूटा हुआ धान पड़ा है। खपरल पर लौकी की बेल चढ़ी हुई है और कई लौकियाँ ऊपर चमक रही हैं। दूसरी ओर उसारी में एक गाय बँधी हुई है। खाने में जौ की रोटियों और अरहर की दाल का जिक्र भी आया है। घर में अनाज न हो, देह पर कपड़े न हों, गौँठ में पैसे न हों, पर जीवन की आनन्दवृत्ति को किसान नहीं दबाता। देहात में साल के छः महीने में किसी न किसी उत्सव में ढोल मजोरा बजता है—कभी होली, कभी आल्हा, कभी कजली, कभी रामायण के बहाने। घर में मार-पीट भी एक सामान्य बात है। पुनिया और बनिया इसकी सामग्री जुटाती हैं। गौँव में द्वेष-भावना भी प्रबल होती है। गोदान में उसके दर्शन भी होते हैं। होरी के भाई द्वेष-भावना से ही उसकी गाय देखने नहीं आते और होरी तो गाय को विष देकर भाग जाता है। इसके अतिरिक्त गौँवों में व्यभिचार भी खुले-छिपे चलता है। मातानीन का सिलिया चमारिन से सम्बन्ध था ही। किंगुरीसिंह ने ब्राह्मणी रत्न छोड़ी थी। पटेश्वरी पटवारी का अपनी विधवा कहारिन से सम्बन्ध था और नोखेराम ने भोला को उसकी स्त्री नोहरी के कारण ही आश्रय दिया था।

(कथोपकथन में प्रेमचन्दजी को कमाल हासिल है। उनके कथोपकथन सजीव पात्रों के अनुकूल, चरित्र स्पष्ट करनेवाले और कथानक को बढ़ानेवाले होते हैं। वे आवश्यकता से अधिक न बढ़े होते हैं और न अपनी मार्मिकता नष्ट करते हैं।) उदाहरण के लिए प्रारम्भ में होरी को बनिया द्वारा कपड़े सौंपते समय, हीरा के आच्छेप

पर रात में ही होरी के गाय लौटाने के निश्चय के समय, मुनिया और गोवर के रोमांस-काल, सोना और मुनिया के भाभी ननद के मजाक तथा भिखारीसिंह को नकल के कथोपकथन काफी मनोरंजक हैं।

पात्रों के चारों ओर के वातावरण पर भी प्रेमचंदजी की दृष्टि है। स्वतंत्र रूप से वसंत के दो चित्र अनुपम माधुर्य लिए हुए हैं। यदि पात्रों के चरित्र पर वातावरण का प्रभाव ही देखना हो तो सोना के पति मथुरा और सिलिया को देखना चाहिए।

“बरोठे में अंधेरा था। उसने सिलिया का हाथ पकड़ कर अपनी ओर खींचा। सिलिया का मुँह उसके मुँह के पास आ गया था और दोनों की साँस और आवाज और देह में कंप हो रहा था।”

मानव-जीवन के बहुत से पहलुओं पर ‘गोदान’ में प्रकाश डाला गया है। उसमें किसान, जमींदार, कारकून, पटवारी, साह लोग, थानेदार, मिल-मालिक, मजदूर, आधुनिक शिक्षित लड़कियाँ, प्रोफेसर, दलाल, संपादक सभी अपने वास्तविक रूप में आते हैं। जहाँ तक हो सका है सभी को और विशेष रूप से जमींदारों को व्यापक दृष्टि से देखा गया है। उनकी दुर्बलताओं को चित्रित भी किया गया है और उनकी दुर्बलताओं तथा कठिनाइयों को समझने का प्रयत्न भी किया गया है। रायसाहब शिक्षित जमींदारों के प्रतिनिधि हैं। वे दोनों रकबाओं में एक साथ पैर रखते थे। राष्ट्रवादी भी थे और जी-हुजूर भी। जेल भी गए थे और सरकारी कर्मचारियों को डालियों भी देते थे। किसानों के प्रति सहानुभूति भी दिखाते और उनसे दंड तथा बेगार भी लेते। रायसाहब ने बार-बार उस वातावरण को दोषी ठहराया है जिसमें वे पले हैं। वे होरी के दंड के रूप में नोखे से अपने लिए मोंगते हैं, यह नहीं कि होरी को वापस दिला दें वे सम्पादक को इसलिए जालच देते हैं कि उनके विरुद्ध वह कोई समाचार न छापे। इससे सम्पादक और जमींदार दोनों का स्वरूप स्पष्ट होता है। कर्जदार होकर झूठी मान-मर्यादा में आकर वे व्यायामशाला के लिए

मेहता को १०००) चंदा देने का वायदा करते हैं ।

किसान और जमींदारों के अतिरिक्त डेमोक्रेसी, साम्यवाद इलेक्शन पर भी काफी छींटे फेंके गए हैं । स्त्रियों के अधिकार पर तो वीमंस लीग में मिस्टर मेहता से एक व्याख्यान हो दिला दिया है । इसी प्रकार खन्ना की मिल में आग लगते समय मजदूर-संघ और हड़ताल आदि के दृश्य हमारे सामने आते हैं । मालतो के द्वारा ग्राम-सुधार का हल्का स्वरूप भा, जो अधिक सक्रिय नहीं है, चित्रित किया गया है ।

समय के साथ प्रेमचन्दजी की भाषा और शैली में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है । भाषा यद्यपि उनकी सरल स्वामयिक और पात्रानुकूल है, परंतु जहाँ 'गोदान' में लेखक को स्वयं कुछ कहना पड़ा है, वहाँ प्रायः भाषा अन्य उपन्यासों से अधिक मजी, मधुर और साहित्यिक हो गई है ।

'वह अभिसार की मीठी स्मृतियों याद आयीं । जब वह अपने ठन्मत्त उसारों में, अपनी नशीली चितवनों में मानो अपने प्राण निकालकर उसके चरणों पर रख देता था । झुनिया किसी विद्योगो पत्नी की भौंति अपने छोटे-से धोसले में एकांत-जीवन काट रही थी । वहाँ नर का मत्त आग्रह न था, न वह उदोत उल्लास, न शाबकों की मीठी आवाजें ; मगर बहेलिए का जाल और छल भी तो वहाँ न था ।''

कला की दृष्टि से परखें तो 'गोदान' में बहुत से पुराने दोषों का परिहार हुआ है । इसके लिए 'रगभूमि' की भौंति यह नहीं कहा जा सकता कि उपन्यास के कलेवर को प्रेमचंदजी ने व्यर्थ बढ़ाया है । इसमें कथानक और चरित्रों का उपयुक्त सामंजस्य है । 'सेवा-सदन' की भौंति यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें सुधार-भा बना प्रवल हो गई है । इसमें आदर्श के सामने यथार्थवाद का पलड़ा भारी ही है । म्युनिसिपैल्टी के-से रुखे थका देनेवाले लंबे प्रसंग भी इसमें नहीं हैं ।

जहाँ लवे प्रसंग हैं, वहाँ विश्राम के लिए कोई ढंग निकाला गया है। रायसाहब जब अपनी दशा हीरो को समझाते हैं तो बीच में पान खाते जाते हैं, भुनिया जब एक सौस में अपनी अतीत-गाथा सुनाना चाहती है तो कहीं-कहीं बीच में गोबर टोक देता है; मेहता जब लम्बा व्याख्यान देते हैं तो दर्शक लोग आलोचना करते जाते हैं। 'गबन' की जोहरा वेश्या की भाँति किसी की मृत्यु नहीं दिखाई गई है। सिलिया और मातादीन का पुनर्मिलन करा के प्रेमचंदजी हमारी प्रशंसा के पात्र हुए हैं। 'सेवासदन' का अंतिम भाग लिखते समय यदि मैं प्रेमचंदजी के पास बैठा होता तो उनसे प्रार्थना करता कि चाहे मुमन को 'सेवासदन' की संचालिका बनाइए, चाहे पद्मसिंह शर्मा को वहाँ आने दीजिए या संकोचवश न आने दीजिए, पर गजाधर और सुमन को एक बार फिर मिला दीजिए। 'गोदान' उपन्यास के अंतिम भाग में वे रायसाहब, लज्जा-गोविनी, मेहता-मालती, सिलिया-मातादीन, का उचित निर्यात कर हीरो की मृत्यु के समय हीरा को बुलाकर हमारे हृदय पर ऐसा आघात करते हैं कि वह सदैव स्मरण रहता है।

वास्तव में गोदान प्रेमचंदजी की अचल कीर्ति का स्मारक है।

—प्रा० विश्वम्भर

४

(यह मुंशी प्रेमचंदजी की अंतिम कृति है। यह उनकी मृत्यु शय्या का गोदान है। आइए, जरा देखें, यह ब्राह्मण के सर मदी जानेवाली बहिया है अथवा जीती-जागती बह-पुष्ट दुभार और दर्शनीय गाय।)

मुंशीजी किसानों के कवि हैं। उनके मुख-दुख में शरीर होकर उनके साथ रहने और हँसनेवाले सहृदय व्यक्ति हैं। इस उपन्यास की कथावस्तु के हरय गाँव और शहर दोनों के हैं। गाँव के चित्र अभिकारी रूप से और शहर के चित्र प्रासंगिक रूप से आए हैं ;

किंतु उपेक्षणीय नहीं, वे गहरे और बहुतायत से हैं। इन चित्रों के कारण हमको दोनों प्रकार के जीवन की एक धर्म-तुला मिल जाती है।

गोदान के नायक का नाम होरी है। उसकी स्त्री है धनिया, जिसके छत्तीस वर्ष की अवस्था में ही बाल पक चुके हैं, बिना दवा-दारू के जिसकी तीन संतान काल-कवलित हो गई हैं। उसका लड़का गोबर और उसकी दो पुत्री सोना और रूपा सब खेत पर काम करते हैं, लगान नहीं चुकता है, कर्ज लेकर लगान चुकाता है, फिर भी रायसाहब की खुशामद को जाता है और गोबर को खेत गोड़ने छोड़ जाता है। बेचारे बच्चे धूप में काम करते हैं। लौटकर देखता है कि गोबर और दोनों लड़कियाँ काम कर रही हैं। उस समय का वर्णन देखिए—“लू चल रही थी, बगोले उट रहे थे, भूतल घघक रहा था—जैसे प्रकृति ने वायु में आग बोल दी हो।”

एक और घनहीन धूप और मेह की परबाह न करनेवाला कुषकों का कठिन परिश्रम और दूसरी ओर रायसाहब—जैसे देश-भक्त, सत्याग्रह-संग्राम में जेल जानेवाले जमींदार के यहाँ का मिस मालती केंद्रित गोष्ठो का हास-विलास और मदिरापान, जिसके मोहिने जाल से लोढरी का दम भरनेवाले ‘बिजली’ के सम्पादक अलग मेज पर बैठकर खानेवाले खहर-चप्पलधारी पं० ओंकारनाथ भी न बच सके। वे भी देहात-सुधार-संघ के सभापति बनने के बदावे तथा राष्ट्र और साहित्य-संबन्धिनी प्रशंसा की आलंकारिक मदिरा-पान कर मेह-भाव मिटानेवाली प्यालों की मदिरा को भी गटागट पी गए। जहाँ के सात्विक पुरुषों का यह हाल, वहाँ के वास्तविक तामसी लोगों की क्या दशा होगी ! जमींदार महोदय समझदार आदमी हैं, किसानों की दुर्दशा का नाटक लिख लेते हैं। स्वयं भी चाहते हैं कि मेहनत-मशकत की रोटी खाँयें ; लेकिन अगर बेगार लोग काम नहीं करते तो उनकी त्योरी बदल जाती है—एक आने रोज मजदूरी देने का

अहसान दिखलाते हैं और शकुन के लिए होरी के गाँव से ५००] की आशा करते हैं। उन शकुन के कर्यों का कैसा अच्छा सदुपयोग होता है ?

मुंशीजी ने शहरवालों की जर्बोमर्दी की भी खूब ही अच्छी तुलना की है। एक खान वेश में मेहता जो आते हैं। जरा डाट बतलाते और बंझूक दिखलाते ही सबकी बोलती बंद हो जाती है, एक दूसरे का मुँह ताकने लगते हैं, खन्नाजी १ आशिक-मिजाजी भी रफूचक्क हो जाती है। मालती देवी के उपासक भी उससे टेढ़ी-सीधी बातें करने लगते हैं। रुपए की भेंट देकर जान छुड़ाना चाहते हैं। केवल रायसाहब अपने क्षत्रियत्व का थोड़ा-सा परिचय देते हैं ; लेकिन उस समाज का परिप्राण करने को बेचारा होरो हो आता है। वही खान से मुठ-मेढ़ कर उसे पटक जमाता है। ऐसे तुलनात्मक स्थल सपन्यास में कई स्थान में मिलते हैं—मिस मालती और एक ग्रामीण बालिका की ; वह मेहता और मालती के लिए खाने-पीने का सामान जुटा देती है और मालती के सर-दर्द के लिए ऊँचे टीले पर चढ़कर दवा ला देती है। दातादीन के पुत्र मातादीन का चमारिन से संबंध हो जाता है, कोई कुछ नहीं कहता ; किंतु गोबर का झुनियाँ से संबंध हो जाता है, तो धर्म का बाँध टूट जाता है। होरी को घर गिरवी रखकर दंड देना पड़ता है। गोबर अपनी स्त्री के साथ रहकर शहर में दुखमय जीवन बिताता है। ताड़ी का आदी हो जाता है, बच्चा मर जाता है। झुनियाँ का गाँव का जीवन कहीं सुखमय था।

बाइबिल में हम जाब (Job) की कहानी पढ़ते हैं, पुराणों में हरिश्चंद्र की कथा का पाठ पढ़ते हैं ; किंतु गाँवों में कितने जाँब और हरिश्चंद्र वर्त्तमान हैं। एक-एक किसान सहनशीलता में जाब के समान है। होरी भी उन्हीं में से है। उसके ऊपर आपत्तियाँ आती हैं। कर्ज बढ़ता जाता है। भाई के प्रति उदारता के लिए

घनिया से लड़ाई होती है। बच्चों के लिए अंजन लगाने तक को दूध नहीं मिलता। भोला के यहाँ से आई हुई गाय को उसका ईर्षालु भाई हीरा मार डालता है; किंतु होरी की क्षमा अतुल है। हारा भाग जाता है। होरी उसको बचाने के लिए पुलस को गिश्त भी देने को तैयार है। उसकी खेती की देख-भाल करता है। उसके लौटने पर प्रेम से क्षमा कर देता है। गाय खरीदन के लिए सुतली बँटता है, सड़क पर गिट्टी कूटता है। मजदूरी करते हुए लू लगकर मर जाता है और सुतली की बेच के रुपयों से गोदान होता है। अगर उसके चरित्र में कोई कमी है तो वह कि रूपा का व्याह एक अघेड़ से कर देता है और २००) ६० स्वीकार कर लेता है, वह भी जब कि उसकी जमीन की कुर्की आ जाती है। भूखा मरता, क्या न करता ?

उपन्यास की कथावस्तु गढ़ी हुई नहीं मालूम पड़ती है। उसमें जीवन का सा बहाव है। जीवन के से ही छायालोकमय सुख-दुख भरे चित्र हैं, कहीं रूखा और तंखा जैसे नैतिक गर्त हैं तो कहीं हारी जैसे उच्च शिखर हैं। कथावस्तु में पूरी गति है, वर्णन सुन्दर होते हुए भी इतने बड़े नहीं हैं कि कथावस्तु की गति अस्थिर हो जाय। वस्तु का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है, सभी प्रकार का जीवन आ गया है। चोटी के आदमियों का भी वर्णन है और निधन लोगों का भी। मिलों की इकताल, शकर व्यवसाय की समस्याएँ चुनाव के दांव-पेच, गाँव के पंचों, जमींदारों और पटवारियों का दंभ और साहूकारों की जायदाद इकपनेवाली नीति, शिकार, पिकनिक, समाज-सेवा बालकों का मनोरंजन, जवान और बूढ़ों की रसिकता सभी का सुन्दर चित्र है।

मानवी और बाह्य प्रकृति दोनों का ही बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। देखिए वस्तु का कैसा सुन्दर चित्र है—फागुन अपनी ओली में नव-जीवन की विभूति लेकर आ पहुँचा था। आम के पेड़ दोनों

हाथों से बौर की मुगंघ बाँट रहे थे और कोयल आम की डालियों में छिगी हुई संगीत का गुप्त दान कर रही थी।

गाँवों में ऊख की बुआई लग गई थी ! अभी धूप नहीं निकली, पर होरी खेत में पहुँच गया है। घनिया, सोना, रूपा तीनों तलैया से ऊख के भीगे हुए गट्टे निकाल-निकालकर ला रही हैं और होरी गढ़ासे से ऊख के टुकड़े कर रहा है।

एक सम्पन्न किसान के घर का चित्र देखिए—

‘सल्लो भी पीछे-पीछे आँगन में खड़ी हो गई। उसने देखा सोना यहाँ कितने आराम से रहती है... आँगन में ज्योत्स्ना ने आइना बिछा रक्खा है। एक कोने में तुलसी का चबूतरा है। दूसरी ओर जुआर के ठेठों के कई बोझ दीवार से लगाकर रखे हैं। बीच में पुआलों के गट्टे हैं। समीप ही आँखल है, जिसके पास कूटा हुआ धान पड़ा हुआ है, खपरैल पर लौकी की बेल चढ़ी हुई है और कई लौकियाँ ऊपर चमक रही हैं। दूसरी ओर की ओसरी में एक गाय बैधी हुई है।

कर्ज लेनेवालों की मनोवृत्ति का कैसा सुन्दर परिचय दिया गया है देखिए।—“वह जानता था कि घर में रुपए नहीं हैं, अभी तक लगान नहीं चुकाया जा सका है, बिसेमरनाह का भी देना बाकी है जिस पर आने रुपए का सूद चढ़ रहा है। लेकिन दरिद्रता में जो एक प्रकार की अदूरदर्शिता होती है, वह निलजता जो तकाजे, गाली और मार से भयंभीत नहीं होती, उसने उसे प्रोत्साहित किया।”

गाय आने की खबर सुनकर बच्चों के स्वर्ण स्वप्नों के राज्य का कैसा सुन्दर चित्र खींचा गया है देखिए—

रूपा ने रिता के गले में हाथ डालकर कहा—“दूध मैं ही दुहूँगी।”

“हाँ हाँ, तू न दुहेगी तो और कौन दुहेगा ?”

“वह मेरी गाय होगी।”

“हाँ, सोलह आन लेगी।”

‘सिर को एक झटका देकर बड़ी बहन रूपा बोली — “जा तू गोबर खाप। जब तू दूध दुहकर रखेगी, तब मैं पी जाऊँगी।”

“मैं दूध की हाँड़ी ताले में बन्द करके रखूँगी।”

“मैं ताला तोड़कर दूध निकाल लाऊँगी।”

गोदान के पात्र बड़े स्वाभाविक और व्यक्ति-पूर्ण हैं। मेहताजी और मिर्जा खुशेद के चरित्रों में कुछ बिलक्षणता है। मेहताजी फिलासफर होते हुए भी बड़े जिन्दादिल हैं। उनके जीवन का दार्शनिक तत्व भी कुछ और ही है। उनके विवाह के आदर्श साधारण पढ़े-लिखे मनुष्यों से कुछ भिन्न हैं। वे हाथ से काम करने के पक्षपाती हैं। गाँव की स्त्रियाँ उनके वैवाहिक आदर्श के अनुकूल बैठती हैं। बीसवीं शताब्दी की युवती मिस मालती देवी उनके आदर्शों के सँचे में ढल जाती है। पात्रों के चरित्र स्थायी नहीं हैं, उनमें विकास है। मालती के चरित्र में धीरे-धीरे परिवर्तन होता है। वह हाथ से खाना पकाने लगती है और प्राणीय बालक-बालिकाओं की रुचि से सेवा करती है। हीरा में स्वयं प्रश्नात्ताप होता है। घनिया भी गोबर की प्रेमिका भुनिया का आने पर में रक्त लेती है। पहले चाहे उसे कुलच्छना कहा हो, किंतु उसकी दशा देखकर उसके विचार बदल जाते हैं। मातृत्व का भाव मात-विरादरो के पथ में पराजय प्राप्त कर लेता है। मुंशीजी का मनुष्यत्व पर बोर विश्वास है। नीच से नीच मनुष्य में वे मानवता की झलक पा जाते हैं। उनके पात्र गिरते हैं पर सुधरते जाते हैं। गोबर काफ़ी गिर गया था, परंतु भुनिया की सेवा का उसपर काफ़ी प्रभाव पड़ा। मातादीन भी अंत में सिलिबा को अना लेता है। सिलिबा के पुत्र के मर जाने से उसपर काफ़ी असर पड़ता है। राहब आ जाता है। घनिया आने पति को ढोंकने-झटकारने में नहीं थूकती,

वच कुछ कह देती है—घोर मतभेद रखती है, बुरे वचन भी ती है ; किंतु उसका नारी-हृदय पति की मंगल-कल्पना के लिए कित्त रहता था। हेमिए कैसा सुंदर वर्णन है—‘होरी लाठी रखकर घर से निकला, तो धनिया द्वार पर खड़ी उसे देर तक रही।’ उसके इन निराशाभरे शब्दों ने धनिया के चोट खाये हृदय में आतंकमय कम्पन-सा डाल दिया था। वह जैसे नारीत्व सूर्यतम व्रत से अपने पति को अभय-दान दे रही थी। उसके रक्त से जैसे आशीर्वादों का झूह-सा निकलकर होरी को अपने कृपावे होता था। विपन्नता के इस अथाह-सागर में सोहाग ही उ था, जिसे पकड़े हुए वह सागर को पार कर रही थी। इन शब्दों ने यथार्थ के निकट ही सहारा खीन लेना चाहा। बलिक के निकट होने के कारण ही उनमें इतनी वेदना-शक्ति आ गयी जाना कहने से काने को जो दुःख होता है, वह क्या आँखवाले को हो सकता है।’ कैसा मार्मिक वर्णन है ?

स उपन्यास-लेखक पर आनेवाली मृत्यु की छाया-सो दिखलाई है जो कि अन्त में होगी को मृत्यु में कुछ माहता धारण कर ।। होरी की मृत्यु का भी कारण सदरत, कार्य-भार की ता और मानसिक व्यथा थी।

उपन्यास में एक और भी सुंदर बात है कि भावी बातों की दूर से भूमिका बंध जाती है। गाय की आवश्यकता शुरू से ही हो जाती है। इस उपन्यास में मुंशीजी ने बहुत आदर्शवाद भी रखाया है और न पात्र बहुत बुरे ही। हाँ, होरी कुछ साधारण झा हो गया है, लेकिन बिलकुल निर्दोष नहीं है। आवेश में वह मार सकता है।

उपन्यास की भाषा तो बहुत ही प्रौढ़ और सजीव हो गयी है। उस से साधारण शब्दों द्वारा गहरा से गहरा प्रभाव उत्पन्न किया है। ग्रामीण लोगों की भाषा में जो स्वाभाविक गाम्भीर्य और

जोर होता है उसका पूरा-पूरा लाभ चठाया गया है। 'दूध ग्रॉन्व में अँजने तक को नहीं मिनता' कितना जोरदार वाक्य है।

उपन्यास में कुछ खटकनेवाली बातें भी हैं।

मुंशीजी के गाँव के पात्र अपनी अवस्था से कुछ अधिक बुद्धिमान हैं और कहीं-कहीं पढ़े-लिखों की-सी बातें करते हैं। होरी के रायसाहब को घर जाने का जो धनिया और गोबर ने विरोध किया, उसमें आज-कल के पढ़े लिखे साम्यवादियों के वार्तालाप की झलक मिलती है। धुनिया का प्रेमालाप कुछ अधिक उग्र हो गया है जो प्रथम परिचय के लिये कुछ दूध बेचने के कारण इस विषय में पड़ना हो गयी थी।

कुछ बातें असंगत-सी हो गयी हैं। मेहना यदि फिनासफर न होता तो अन्ध्रा होता। उनका हजार रुपये खर्च कर देना तो उनके चरित्र के अनुकूल था, किन्तु खान बनकर आना जरा स्वाभाविकता से बाहर की बात है। धनुषयज्ञ के अवसर पर रायसाहब भीतर हो बैठे रहते हैं और मेहमान और अफसर लोग बाहर बैठने जाते हैं, यह भी कुछ अस्वाभाविक है। खन्ना मिल में तबाह हो जाते हैं, यह भी कुछ अस्वाभाविक है। मिल में आग लग जाने से खन्नाजी का तख्ता पलट-सा हो जाता है। वे तबाह हो जाते हैं और फिर भी मिल चालू हो जाता है।

मुन्शीजी ब्राह्मणों के भी कुछ अधिक बिलाफ मालूम होते हैं। मातादीन के मुँह में चमारों द्वारा हड्डो दिलवाकर कुछ ज्यादाती का है किन्तु यह अकारण न था।

इस उपन्यास ने मुन्शीजी की कीर्ति को और भी ऊँचा उठा दिया है। हिंदी के उपन्यास-साहित्य में इसका बड़ा ऊँचा स्थान रहेगा।

— गुलाब राय

प्रेमचंद : एक व्यक्तित्व

प्रेमचंद से सरल व्यक्तित्व मैंने किसी महापुरुष का नहीं देखा । पुरुष आर किसे कहेंगे ? मैं तो मानता हूँ कि जो व्यक्ति सामाजिक जना के विस्तृत महासागर में सत्य, शिव और सुन्दर को जो रें घुल-मिल गयी है, उसमें अपने को खोए बैठे हैं, उनका भाम पा लें, उन्हें समझ लें, उनसे प्रेरणा ले सकें और उस शा में अपने व्यक्तित्व को धनी बनाकर इन लहरों को अपना कुछ पकें, उनकी शक्ति बढ़ा सकें, वे महापुरुष हैं । महापुरुष बीहड़ त्त में जन्म नहीं लिया करते । समाज की चेतना का—और ना के उस अंश का जो शुभ है उसे— स्पर्श कर व्यक्ति की चेतना न् बनती है । प्रेमचंद ने अपने युग का, उसको पीड़ा और र को पहचाना था और अपनी आवाज को उसमें मिलाकर युग आवाज को बुलंद बनाया था ।

आज हम हिंदी-प्रांतों के सामाजिक जीवन को लें, तो उसे रंद के प्रति बहुत अधिक ऋणी पायेंगे । हाल ही में एक जनिक, राष्ट्रीय कार्यकर्ता ने जब सुना ि हम लोग प्रतिवर्ष रंद की स्मृति में इकट्ठा होते हैं तो बड़ा आश्चर्य प्रकट किया कहा “आर लेखक की जयंती क्या मनाते हैं, किसी कमेंठ जयंती मनाइए । शिरा और प्रताप की जयंती समझ में आनी तलक और गाँधी के जीवन में हम कर्म की प्रेरणा पा सकते हैं,

होन और फलने-फूलने के लिए जमीन और वातावरण कौन तैयार करेगा ?” हमारे राष्ट्रय जीवन में प्रेमचंद की देन जो मैं—गोंधो और जवाहरलाल और एक-दा और चांटी के ने-आँ को झाड़ दें तो बड़े से बड़े राष्ट्रीय नेताओं की देन से बड़ा मानता हूँ। ये लोग कुछ धुँआँवार भाषण दे लेते हैं जिसमें साम्राज्यवाद के प्रति कड़ो से कड़ो गालियाँ होती हैं, पर ये लोग सृजन कहीं करते हैं ? रचनात्मक आदर्श की प्रेरणा इनसे कब मिलती है ? वह तो तभी मिलेगी जब आप अपनी फुर्लत की पड़ियों में सूरदास के चरित्र पर मनन करते हैं या विनय का बत सोचते हैं या चक्रवर्त का चित्र आँके ब मनने होता है। राष्ट्र के प्रति एक महान् उत्सर्ग की भावना का उदय सार्वजनिक समारोहों का चीख-पुकार और शाय गुनगुन नहीं होता ; वह तो होरो-जैसे व्यक्तियों को एक गलत समाज व्यवस्था को मशीन में पिस्टले देखकर मन में समवेदना और अनिश्चय की जा भावना उठता है, उसमें हाता है। मैं एक बार फिर कह दूँ कि राष्ट्र का निर्माण राजनीतिक मुतफन्नयों के जरिए नहीं होता, उस साहित्यकार के हाथों होता है जो अपने अन्तर की वेदना और मंगन से जनता के सामने जीवित आदर्शों को सृष्टि किया करता है।

प्रेमचंद महापुरुष थे, पर जब कभी मैं इस बात का विश्लेषण करने बैठता हूँ कि वह कौन-सी चीज थी जिसने उन्हें महान् बनाया तो कभी-कभी हेरान हो जाता हूँ। एक अजब सादगा उस आदमी में थी ! बच्चों का-सा आत्मसुख—पड़ली बार मैंने उन्हें दिल्ली सम्मेलन में १९३४ में देखा। एक बड़े हाल में पनास नटियों के बीच हरिऔधजी की कटिया के नजदीक एक कठिया पर प्रेमचंद लेटे हुए थे और पढ़े मनोयोग से किसी अंग्रेजी पुस्तक का अध्ययन कर रहे थे। जेनेन्द्रजी मेरे साथ थे : हम लोगों को देखकर उठ बैठे। एक कुछ मैली-सी खद्द की कमीज और उसी किमाश की धोबी—गहो के बटन खुले हुए—मुँह पर मूँके अस्त-व्यस्त फैली,

मिर के बाल रुखे—मैं हैरान कि क्या यही प्रेमचंद हैं ! बातचीत हुई—निःशयत प्रभावहीन और विनीत पर जब वे हँसे, ठहाका मारकर, तो उमके पीछे जैसे एक जिन्दा व्यक्तित्व की चमकदार झलक मिल गई दा मैं लौटा तो विश्लेषण करके उनके व्यक्तित्व की महानता के तत्वों का परिचय तो किसी को नहीं दे सकता था, पर यह लगा कि एक खास शक्तिमय ने मेरे जीवन में प्रवेश किया है । शाम को उन्हें कवि-सम्मेलन में बैठे देखा, कुछ अधिक ताजे थे और रंग लेकर कविताएँ सुन रहे थे । किसी ने कहा — ‘प्रेमचंदजी आए यहाँ !’ तो खूब हँसे, बोले — ‘मजा आ रहा है ।’ उनमें बच्चों का-सा आत्मसुख ही न था —चलता था । भी कवि-सम्मेलन के प्रति रस ही नहीं था, एक इल्लू-सा तिरस्कार और ‘ताना’ भी था ।

पर इस शक्य को अभिमान क्यों लू भी न गया था ? कौन था दिल्ली-सम्मेलन में—या वैसे भी हिंदी के विस्तृत ससार में—जिन्होंने हिंदी की सेवा प्रेमचंद से ज्यादा की थी ? किन्होंने हिंदी के साहित्य को तुतलाहट की अवस्था में उठाकर उसे प्रौढ़ता और गाम्भीर्य दिया था, और जाने-जाने जो ‘गोदान’ के रूप में ऐसा साहित्य दे गया जिन्होंने हिंदी को अन्य प्रांतिय भाषाओं के सामने ही नहीं, विश्व के साहित्य के कंधों से अपने कंधों की भारने का दावा करने की चमत्ता दी ? हिंदुस्तान गुलाम देश न होता तो आज अमेरिका और यूरोप की साहित्यिक अभिरुचि रखनेवाली जनता अपनी भाषाओं में ‘गोदान’ के संस्करणों से वंचित न रह पाती ।

लेकिन प्रेमचंद में अहंकार नहीं था । १९३६ में नागपुर-सम्मेलन में जब मिले तो मैंने पर्ल एस० बक का ‘गुड अर्थ’ समझ ही लिया था और मैं उसमें सराबोर था । प्रेमचंद को सारा झट सुनाया । उनके चरित्रों का विश्लेषण उनके सामने किया अपनी प्रशंसा से भरी टोका-टिप्पणों की । प्रेमचंद ने सब सुना । उपन्यास की दाह दी । और जब मैं इंदौर लौटा—एक हफ्ते के अंदर ‘गोदान’ मेरे

हाथों पड़ा। तीन दिन मैं प्रेमचंद के निकटतम सम्पर्क में रहा— भले आदमी ने मुझसे यह नहीं कहा कि उसने हाल ही में एक ऐसी किताब खत्म की है, जो शायद भारतीय जीवन का उससे भी अच्छा परिचायक है, जितना 'गुड अर्थ' में चीन के वस्तु जीवन का। होरो और धनिया के चित्र 'दैनिक लंग' और 'ओलन' के चित्रों से कुछ अधिक सुगढ़ ही बन पाए हैं। 'गुड अर्थ' जब प्रकाशित हुआ तो रात भर में अमेरिका में उसकी धूम मच गई थी और बड़े-बड़े हजारों आदमियों के हाथ में उसकी प्रतियाँ थीं—पर यह बात प्रमाण नहीं है कि 'गोदान' किसी भी दृष्टि में उससे हीन है। प्रेमचंद की प्रतिभा की तो और भी बलिहारी देने को जो चाहता है, जब हम देखते हैं कि आर्थिक और राजनीतिक संघर्षों से पीड़ित बातावरण में भी उनकी वृत्ति इतनी निखरी, पर उस शुरुआत ने कभी अपनी इस प्रतिभा पर दम नहीं किया, जन-साधारण से वह अपने को समेट कर नहीं बैठा।

प्रेमचंद की महानता थी किममें ? महानताएँ तो कई प्रकार की होती हैं। एक पराक्रम की महानता—इस दृष्टि में जैन सिकंदर, मैपोलियन और हिटलर—आप चाहें तो चर्चिल को भी महान् कह सकते हैं ; एक आध्यात्मिकता की महानता होती है—जैसे बुद्ध, गौंधी और ईसा की महानता। एक ऐसी महानता भी होती है— जो कला की प्रज्वलनशील, संवेदनशील गहराई का स्पर्श कर महान् बनती है—जैसे बीथोवन, रोमांटोली और रवींद्रनाथ। प्रेमचंद में तो यह भी नहीं है। कला की इस गहराई से वे दूर हैं। रामागेनॉ बा रवींद्र को पढ़ें—तो उनके सामने प्रेमचंद कुछ रूखे और अटपटे से लगते हैं। उनकी तो अपनी और भा खामियाँ हैं। प्रेमचंद ने जीवन की कोई नई फिलासफी नहीं दी, घटनाओं का विश्लेषण भी किया, तो समाधान से वह अपने को बचाते रहे। घटनाएँ जो उन्होंने चुनी, वे अधिकतर साधारण हैं और उनकी विवेचना उन पर

। टप्पणी के रूप में है ।

फिर भी प्रेमचंद महान् तो हैं ही । उनका व्यक्तित्व, उनकी रचनाएँ, हमारे अंतराल का स्पर्श तो करती ही हैं, हमें जाग्रत भी बनाती हैं, हमें बल देती हैं, प्रेरणा देती हैं, प्रोत्साहन देती हैं—रस भी देती हैं । इस स्फूर्ति का जो हम प्रेमचंद के सम्पर्क में आकर अपने में पाते हैं, रहस्य क्या था ! मैं तो इसका एक ही जवाब पा सका हूँ—प्रेमचंद को मनुष्य से प्रेम था । अपने पात्रों के वे इस दृष्टि से निर्माता नहीं थे जिससे कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाता चलता है, जनक ये—अपने रक्त और मांस से उन्होंने उनका सृजन किया था, और इसी से उनके प्रति प्रेममय थे । प्रेमचंद पात्र में तन्मय हो सकते थे । इसीसे उनके पात्र इतने जीवित बन सके हैं । प्रेमचंद को मानवता से प्रेम था, उसकी कमजोरियों के प्रति सहानुभूति थी, उसकी उदात्त वृत्तियों के प्रति आदर और आदर्श में श्रद्धा थी । प्रेमचंद की सहानुभूति बहुत अधिक व्यापक थी । इसी कारण वे सधारण पात्रों को पाठक का प्रेमपात्र बना पाए हैं । सुमन, सुरदास, विनय, सोफिया, धनिया और होरो—इन सबके प्रति हमारे मन में अच्छे से अच्छे भाव ही जाग्रत होते हैं ।

यह प्रेम उन्हें वेदना से मिला । अपनी व्यक्तिगत वेदना से भी प्रेमचंद को जीवन में मुख नहीं मिला । उनका जीवन वेदनाओं का एक निर्बाध चक्र ही बना रहा । जीवन में उनको निराशाएँ भी खूब मिलीं । किसी ने कहा था कि 'गोदान' का होरो स्वयं प्रेमचंद हैं । शायद सच कहा था । प्रेमचंद को अपेक्षा और तिरस्कार कम नहीं मिला, और इसके लिए मैं हिंदी की सबसे बड़ी साहित्यिक संस्था हिंदी-साहित्य-सम्मेलन को भी दोष दूँ । तो क्या वह अनुचित होगा । नागपुर के अधिवेशन (१९३७) में वे पहुँचे थे । मैं जिस ट्रेन से पहुँचा उसके आधा घंटा पहले उनकी ट्रेन पहुँची थी । मैंने उन्हें अप्रैल की दोपहरी में, स्टेशन के नजदीक खुले मैदान में,

धूर में अकेले खड़े नरने पाया। सम्मेलन के व्यवस्थापकों ने वहाँ उन्हें इमालिए खड़ा कर रखा था कि वे उनके लिए अकेला तांगा लेकर शहर जाना नहीं चाहते थे। इस इंतजार में थे कि दूसरी गाड़ी आवे और सवारियाँ उतरें तब उन्हें भी ठहरने के स्थान तक पहुँचा दिया जाय। नागपुर का अधिवेशन—शायद दूसरे अधिवेशनों के समान ही सभापतियों का अधिवेशन था। एक रोज यह देखकर मैं तो हैरत में रह गया कि एक साहब, जो शायद साहित्य-परिषद् के स्वागताध्यक्ष थे, आए और बड़ी लापरवाही से प्रेमचंद से कहा—“साहब, साहब, साहित्य-परिषद् के सभापतित्व के लिए कोई राजी नहीं हो रहा है, अमुक अमुक से प्रार्थना की थी, आप ही कृपा कर स्वीकृति दे दें।” प्रेमचंद ने सहज भाव से अपनी असमर्थता प्रगट की; पर मेरे मन में तो एक भाला चुभा—कि जिस व्यक्ति का अपने वार्षिक अधिवेशन का प्रतिवर्ष सभापति बनाकर सम्मेलन को गौरव मानना चाहिए था, उसमें ऐसी तुच्छ-सी प्रथना इतनी लापरवाही से की गई।

पर प्रेमचंद में एक बात थी जिसने उन्हें उपेक्षा, तिरस्कार और निराशा के बीच में, जिंदा और जिंदादिल रखा। नागपुर के वे तीन दिन भी क्या जीवन में भूलने के दिन हैं! प्रेमचंद थे, अब्दुल हक आ गए थे प्रा० आशुतोष थे—गोविंद जी, जनेंद्र, अज्ञेय—हम लोगों का एक दल बन गया था और कालिज के लड़कों से कम जिंदादिल वह दल नहीं था। जनेंद्र जी के एक दोस्त ने नागपुर में एक अच्छा रेस्तराँ खोल रखा था, कभी हम वहाँ नजर आते, कभी सबको पर भूमते हुए, कभी अपने कमरे के सामने के बरामदे में। गोविंदजी केवल फल खाते थे, और शायद हम लोगों के लिए ढेर के ढेर फल मँगा लेते थे। उन फलों की तश्तरियों के सामने, आदर्श कर्मशील, कर्मठ व्यक्तियों के रूप में हम सबके बीच साहित्य और जीवन की गहरी से गहरी चर्चा ताँहाती हो रहती

थी और उस सबके पीछे प्रेमचंद का जोर का अट्टहास—जो भाग्यवश बिलकुल हो बिलुप्त नहीं हो गया है, भोपत में भी कुछ अंश में आ गया है—आज भी जब कानों में गूँज उठता है, तो बिल को एक बध्ना-सा पट्टाँचता है।

प्रगतिशीलता के अच्छे से अच्छे मानी में प्रेमचंद का व्यक्तित्व एक प्रगतिशील व्यक्तित्व था। उनका प्रत्येक उपन्यास पिछले उपन्यास से बाजी ले गया है, चरित्र अधिक स्पष्ट है, घटनाएँ तीव्र, वेदना गहरी। 'गोदान' की कल्पना में विश्व-साहित्य की सतह पर करता हूँ। मेरा पूरा विश्वास है कि प्रेमचंद तीन वर्ष और जिंदा रहते तो हिंदी को एक ऐसी पुस्तक पर नाज हो सकता था, जो संसार की सर्व-श्रेष्ठ पुस्तकों में होती। मुझे बार् है—नागपुर में एक स्थान पर चाय लेते हुए जब भोमती किवे ने प्रेमचंद का परिचय देते हुए कहा था—“मैंने आपको बीस साल पहले पढ़ा था, तब भी आप बड़ा ही सुन्दर लिखते थे, और अब भी वैसा ही लिखते हैं” तो प्रेमचंद ने उस वाक्य के भाव को थोड़ा-सा मरोड़कर हल्की-सी झुँझलाहट के साथ कहा था—“तो क्या इतने वर्षों में मेरा हाँ भी झोका !” प्रेमचंद जिस दिन तक जिंदा रहे, जीवन में प्रगति करते रहे। और, राष्ट्र की आत्मा के साथ उनका जो सम्पर्क था, वह गहरे से गहरा होता गया। वे सदैव शुद्ध राष्ट्रीयता के समर्थक रहे। सांप्रदायिकता को जो नहरीली लपटें आज चारों ओर फूटती चली आ रही हैं, उनके बीच रहकर भी वे उनसे बड़ा झुक्त रहे। जाषा के क्षेत्र में वे हिंदुस्तानी के समर्थक थे—इसके पीछे केवल उनका उद्द के प्रति प्रेम नहीं था; पर भारतीय सभ्यता की वह सत्व भाँकी उनके सामने थी जिसमें हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों का शुद्ध-सात्विक सम्मिश्रण है। गाँधीजी ने नागपुर की भारतीय साहित्य-परिषद् के अधिवेशन में जब हिंदी-हिंदुस्तानी का निर्णय किया और जब उनके सहमति न होते हुए भी जवाहरलाल उनके

नजदीक खामोश बैठे रहे, तब प्रेमचंद ने ही शायद अपने जीवन की दो-चार तकरीगों में सबम जोरदार तकरीर में हिंदुस्तानी का समर्थन किया। गाँधीजी के बाढ़ देश में किसी ने हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए उतना प्रयत्न किया है तो प्रेमचंद ने अपने उग्यासों के द्वारा।

समाज के भीतर के प्रज्ज्वलन से प्रेमचंद ने अपने व्यक्तित्व के दीपक की बाती जलायी थी। यह ज्योति उनमें सदा जलती रही— इसी ने उन्हें जिंदा रखा, इसी ने उन्हें लेखक बनाया, इसी ने उनके व्यक्तित्व को हमारे नजदीक इतना प्रिय बना दिया है। प्रेमचंद के व्यक्तित्व में और उनकी रचनाओं में जो उनके व्यक्तित्व का विस्तार होता है, हम उस चिनगारी को पाते हैं, और उसी की हम पूजा करते हैं। हमारे मन में गराबों के प्रति सीहार्द्र की जो भावना है जो देश-प्रेम है, जो त्याग, तपस्या और बलिदान का भाव है, वही तो हमारी राष्ट्रीय मानवता के विकास का सूत्र है— प्रेमचंद ने उसे अपने व्यक्तित्व से प्रज्ज्वलित किया है। हमारे प्रकृश में हमारी राष्ट्रिय मानवता अपना रास्ता साफ-साफ पा लेती है। यह रहस्य है, प्रेमचंद के प्रति उमड़ते हुए हमारे इस प्रेम और हमारी इस श्रद्धा का। प्रेमचंद 'आमर' नहीं हैं—युग-युग तक वे जियेंगे नहीं। शायद शायद और रवींद्र जितना भी न जियें; पर जब तक हमारी यह गुलामी है, हमारी आत्मा पर आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक बन्धन हैं, हमारी आज की समस्याएँ हैं, और उन समस्याओं के बीहड़ में अपना रास्ता ढूँढ़ने में हम प्रयत्नशील हैं और घनी भाङियों को चीरते हुए और दुर्गम घाटियों को पार करते हुए हम निश्चित रूप से आगे बढ़ते चले जा रहे हैं; तब तक प्रेमचंद हमें इतने ही प्रिय रहेंगे। सैकड़ों वर्षों के बाद एक जमाना ऐसा आ सकता है जब इतिहासकार शायद यह सोचे कि प्रेमचंद को इतिहास में स्थान दिया जाय या नहीं। पर, आज तो वे हमारे जितना नजदीक हैं और

प्रिय हैं तथा आदर और भ्रष्टा के पात्र हैं। अनेकाले अनेक युगों तक तो वैसे ही रहेंगे। आज के युग के उल्लास, आकांक्षाएँ आदर्श हम उनमें पाते हैं।

प्रा० शांतिप्रसाद वर्मा

आदर्श और यथार्थ

प्रेमचंद ने साहित्य को किसी हद तक वही व्याख्या की है जिसे हम भारतीय कहने के आदी हैं। साहित्य का सम्बन्ध किसी ऐसी वस्तु से है जो हमारे ऊपरी इन्द्रिय ज्ञान से परे है, जो अनेकों में व्यक्त होते हुए भी एक और अनन्त है। साहित्य को यह रहस्यात्मक कल्पना भारतीय विचारधारा की कोई अनोखी देन नहीं है, पर पश्चिम के कलाकारों के लिए ही अश्रुत और अपूर्व है। फिर भी इस युग में हम उस दृष्टिकोण का भारतीय कहने के आदी हैं और प्रेमचंद का साहित्य की इस प्रकार की व्याख्या करना उन पर इस युग के, और उसकी भारतीयता के प्रभाव का बनाता है। 'हम' में उन्होंने लिखा था — 'साहित्य हम उद्योग का नाम है, जो अदमो ने आपस के मेद मिशाने और उस मौलिक एकता को व्यक्त करने के लिए किया है, जो हम जाहिरों मेद की तह में, पृथ्वी के उदर में व्याकुल ज्वालाला की भाँति छिपा हुआ है। जब हम मिथ्या विचारों और भावनों में पकड़ कर असलियत में दूर जा पड़ते हैं, तो साहित्य हमें उस मोर्ते तक पहुँचाता है, जहाँ यथार्थ अपने सच्चे रूप में प्रवाहित हो रहा है। इसमें मालूम होता है कि साहित्य का ध्येय, हमें व्यक्त करना नहीं है, जो है; बल्कि उसे, जित होना चाहिए। मनुष्य ने आकाश में तमाम मेद-भाव कर लिए हैं; साहित्य इन्हीं

का चित्र खींचने से संतुष्ट नहीं—वह उनके परे मनुष्य-मात्र के उस एकता का चित्र खींचना चाहता है जो अब भी है ; पर क्षिप्रा हुई है और जिसे हमारे समाज में व्यक्त होना चाहिए। हमें यथार्थ से मतलब नहीं ; क्योंकि मनुष्य यथार्थ नहीं, मेद-भावों को समझ बैठता है। हमें उस सच्चे यथार्थ से मतलब है जो निर्मल निष्पाप इस ऊपर। यथार्थ के नीचे क्षिप्रा हुआ है। इस सच्चे यथार्थ को हम आदर्श कह सकते हैं ; क्योंकि हम उस तक पहुँचना चाहते हैं और व्यक्त रूप में अभी वह हमारे पास नहीं है।”

साहित्य के प्रति उनका एक दूसरा दृष्टिकोण भी हमारे सामने आता है जिसे हम विदेशी और गश्चिमी कहने के आदी हैं। इसके अनुसार साहित्य किसी परोक्ष यथार्थ—जो निर्मल सनातन और अखंड है—को नहीं व्यक्त करता, वरन् उसकी सृष्टि हो दो तत्त्वों के द्वंद्व से होता है जो हमेशा बदलनेवाले हैं। सत्य और असत्य का संघर्ष ही साहित्य है, और ये ‘सत्य’ और ‘असत्य’ सामाजिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होते हैं—उनका कोई स्वतंत्र अमर सत्ता नहीं है। जैसा उन्होंने लिखा । —“सत्य” और “असत्य” का संघर्ष रामायण और महाभारतकाल से लेकर बीसवीं सदी तक बराबर चला आता है और जब तक साहित्य का सृष्टि होती रहेगी, यह संघर्ष साहित्य का मुख्य आधार बना रहेगा। एक चिरंतन सत्य में संघर्ष असम्भव है ; संघर्ष उनमें होता है जो परिवर्तनशील है। इसलिये साहित्य का सम्बन्ध उस यथार्थ से है जिसने मनुष्य से जुदा कर रखा है और जो बदलनेवाला है। यह जुदा करनेवाली वस्तु आदर्श नहीं है ; इसलिये उसे यथार्थ कह सकते हैं। और यही से प्रेमचंद में हम इन दोनों का संघर्ष देख सकते हैं।

साहित्य में जो प्रचलित यथार्थवाद है, उसकी प्रेमचंद ने अनेक स्थलों पर निंदा की है और साहित्यकों को उससे बचने के लिए सचेत किया है। यथार्थवाद मनुष्य की दुर्बलताओं का चित्रण है

और हम प्रकार का चित्रण मनुष्य को दुर्बलताओं की ही ओर ले जा सकता है। 'कायाकल्प' में चक्रवर कहता है—“यह मैं नहीं कहना कि तुमने जो कुछ लिखा है, वह यथार्थ नहीं है। उनकी (अच्छाओं और प्रवृत्तियों का) नग्न यथार्थता ही ने उन्हें इतना घृणित बना दिया है। यथार्थ का रूप अत्यंत भयंकर होता है, और हम यथार्थ को ही आदर्श मान लें, तो संसार नरक-तुल्य हो जाय।” एक भयंकर यथार्थ है, इसमें नहीं नहीं को जा सकती; अपने क्षेत्र में वह भी एक सत्य है। परन्तु, साहित्य में तो हम एक आदर्श उपस्थित करने हैं; हम यथार्थ को हम आदर्श कैसे मान सकते हैं? अग्रे चक्रवर कहता है कि दुर्बलताओं को और मनुष्य का मन अपने आप दीड़ता है, उसे उधर दौड़ाने की जरूरत नहीं। अगर दुर्बलताओं का चित्रण किया जाय तो सबमें भी सत्य और सुन्दर को खोज की जाना चाहिए। प्रेमचंद यहाँ तक मनोवैज्ञानिक सत्य के रूप में यह बात मान लेते हैं कि दुर्बलताओं के चित्रण से मनुष्य का मन उनकी ओर खिंचता ही है, इसकी विरोधी बात का कि दुर्बल का देख मनुष्य स्वयं सबल बनने को चेष्टा करता है, वह एकदम अस्वकार करते हैं। फिर इसी का क्या सबूत कि दुर्बलताओं में सत्य और सुन्दर को पाकर मनुष्य उस सत्य और सुन्दर को छोड़ दुर्बलताओं की ही ओर अधिक न भुक्तगा? तब तो उसकी आत्मा को सन्तोष होगा कि दुर्बलताओं के होते हुए भी कुछ अच्छाइयों उन्हीं के साथ लिपटी हुई उनके अन्दर मौजूद हैं। साहित्य का ध्येय मनुष्य का पतन न होकर उत्थान ही है। एक ऐसा साहित्य भी हो सकता है जो नग्न यथार्थ का चित्रण करते हुए भी मनुष्य के उत्थान के लिए हो—इसकी ओर प्रेमचंद ने ध्यान नहीं दिया।

प्रेमचंद को यथार्थवाद से इसीलिए भय है कि वह भयंकर है और मनुष्य को पतन की ओर ले जानेवाला है। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य कमजोरियों का पुतला है और उसकी

कमजोरियों का निष्पण उसके लिए घातक हो सकता है, उनके आदर्शवादो दृष्टिकोण का मूल कारण है। यदि हम किसी आदमा को उठाना चाहते हैं तो हमें चाहिए कि हम यह दिखावें कि वह कितना ऊपर उठ सकता है न कि वह कितना नीचे गिर सकता है या गिर चुका है। स्वभावतः जब हम साहित्य को कटु अनुभव के क्षेत्र में खींच ले जायेंगे, तो वह एक प्रकार का कालानक स्वर्ग बन जायगा जहाँ हमारे संग्राम-भीरु हृदय को सात्वना मिलेगी। यह कम आश्चर्य की बात नहीं कि प्रेमचंद ने इस काल्पनिक स्वर्ग की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। वह कहते हैं — “मानव-स्वभाव की एक विशेषता यह भी है कि वह जिस छल, क्षुद्रता, और कपट से घिरा हुआ है, उस की पुनरावृत्ति उसके चित्त का प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों में नज्जत मिले— वह भूल जाय कि मैं चित्तात्मा के बधन में पड़ा हुआ हूँ; जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में ख्याल होता है कि जब हमें किस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से सावका है, जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, ता फिर, ऐसी पुस्तक पढ़ें ही क्यों ?” काल्पनिक स्वर्ग के निर्माताओं की यह पुरानी दलील है कि मनुष्य साहित्य या कला में यथार्थ ही पुनरावृत्ति नहीं देखना चाहता। इससे उल्टा दूसरा सिद्धांत है कि मनुष्य स्वभाव तः साहित्य में यथार्थ की नकल करना चाहता है; कुछ लोग तो कला की सृष्टि ही इस प्रवृत्ति से मानते हैं। दूर जाने की जरूरत नहीं, स्वयं प्रेमचंद ने लिखा है — “कला देखती तो यथार्थ है; पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो।” इससे मालूम होता है कि कला यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करती है, परंतु वह एक काल्पनिक स्वर्ग की रचना ही

करती। यदि मनुष्य साहित्य में यथार्थ की पुनरावृत्ति नहीं चाहता। तो फिर यथार्थ का यह भ्रम खड़ा करने की क्या जरूरत है ! यथार्थ से भागनेवाले के लिए जैसे यथार्थ वैसे उसका भ्रम। बल्कि भ्रम में शायद उसे ज्यादा भय हो, क्योंकि जीवित मनुष्य से मनुष्य का भूत ज्यादा भयकारी होता है।

(वास्तव में कल्पनावादियों को यथार्थ के चित्रण से जो चिढ़ है, वह इस लिए नहीं कि कला में उसकी पुनरावृत्ति मनुष्य को भाती नहीं; बल्कि इसलिए कि यथार्थ का सामना करने का उनमें साहस नहीं। शायद कोई कल्पनावादी इस बात को ईमानदारी के साथ स्वीकार न करेगा; क्योंकि इससे उसकी कमजोरी साबित होती है। परन्तु, प्रेमचंद के संघर्ष के कल्पनावाद के विरोधी तत्व ने उनसे इस कमजोरी को साहस के साथ स्वीकार कराया है। वह मानते हैं कि यथार्थ इतना कटु है कि हमें निराशा में बचने के लिए एक काल्पनिक स्वर्ग रचने की जरूरत होती ही है। “यथार्थवादी अनुभव की बेकियों में जकड़ा होता, और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ हाग-धब्बे रहते हैं, इसलिए यथार्थवाद हमारा दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रांतिओं का नग्न चित्र होता है, और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाना है। हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।”

इस निराशावाद से बचने के लिए आदर्शवाद की जरूरत पड़ती है। वास्तव में यथार्थ से भागने पर निराशा का रंग और गहरा हो जाता है; काल्पनिक स्वर्ग में दुबकने की आशा बिकाऊ नहीं होती। आशा तो संघर्ष से ही उत्पन्न होती है, जब हम लड़ते रहते हैं और आशा करते हैं कि आगे विजयी भी होंगे।

यहाँ पर आदर्शवाद को साहित्य में लाने के लिए प्रेमचंद

यथार्थवाद को सहायता को जरूर। समझते हैं ; लेकिन सिर्फ इसी हद तक कि पढ़नेवाला भुलावे में आ जाय और यह न जानने पाए कि लेखक सरासर झूठ बोलकर उसका मन बहला रहा है। इस आदर्शवाद और यथार्थवाद के संमिश्रण को वह 'अदर्शोमुख यथार्थवाद' कहते हैं, जो हमें स्टैलिन के समय कुछ रूसी साहित्यिक आंदोलन की याद दिलाता है, जिनमें आदर्शवाद के साथ फिर समझौता किया गया है। लेखक मनुष्य की कमजोरियों का चित्रण करे ; लेकिन हमेशा यह दिखावे कि उसने उन पर विजय पाई है। साहित्यकार हमारे भीतर सद्भावनाओं का संचार करें, इसके लिए जरूरत है कि उसके चरित्र हों, जो प्रलोभनों के आगे भिर न झुकें ; बल्कि उनको परास्त करें, जो वासनाओं के पंजे में न फँसे , बल्कि उनका दमन करें, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजयनाद करते हुए निकलें।" इस तरह यथार्थ की भयंकरता से प्रेमचंद समझौता करते हैं ; भयंकर होने पर भी जब यह दिखाया जायगा कि आदर्शवाद उसकी गर्दन पर सवार है, तो लोगों का भय दूर हो जायगा और वे आदर्शवाद पर भ्रष्टा करने लगेंगे।

एक तरह से प्रेमचंद ने यथार्थवाद को मनुष्य की कमजोरियों का पर्यायवाची मान लिया है। लेकिन, यथार्थ में सच्चे साधु पुरुष भी तो होते हैं जिनके अन्दर कमजोरियों से अधिक शहजोरियाँ होती हैं। अपनी ही व्याख्या से जैसे चिढ़कर वे पूछते हैं—क्या यथार्थता अपने क्षेत्र में समाज और व्यक्ति की पवित्र साधनाओं को नहीं ले सकती ? एक विधवा के पतित जीवन की अपेक्षा, क्या उसके सेवाभय तरमय जीवन का चित्रण मंगलकारी नहीं है ? यह यथार्थ से दूरगा समझौता है, यथार्थ के भीतर आदर्श से जो कुछ मिलना-जुलना है, उसे हम लेने के लिए तैयार हैं ; लेकिन आगे चलकर वह साहित्य में अशुन्दर को भी लेने के लिए तैयार है,

इस शर्त पर कि सुन्दर की सुन्दरता बिगड़ने न पाए। यह वही पहले की बात है कि आदर्श को हमेशा यथार्थ की गर्दन पर सवार रखा जाय। असुन्दर के संयोग से सुन्दर और भी चमक उठता है। “साहित्य में असुन्दर का प्रवेश केवल इस लिए होना चाहिए कि सुन्दर को और भी सुन्दर बनाया जा सके।” यथार्थवाद का ऊँट आदर्शवाद के तम्बू में थोड़ी और गर्दन टकेलता है। यथार्थवाद की नग्नता तो भयंकर होती है; लेकिन उसकी ओर यदि संकेत भर कर दिया जाय तो एक नया ही सौंदर्य पैदा हो जाता है। कला संयम और संकेत में है। वही बात जो संकेतों और गहस्थों में आकर कविता बन जाती है; अपने स्पष्ट या नग्नरूप में बाधित हो जाता है। “ऊषा की लाली में जो सौंदर्य है, वह सूरज के सम्पूर्ण प्रकाश में दर्ज नहीं।” लेकिन, जिंदा रहने के लिए ऊषा का प्रकाश ही काफी नहीं। हमें सूर्य के पूर्ण प्रकाश की भी जरूरत होती है। और कला का ध्येय जब तक मनुष्य का कल्याण है तब तक वह गुलाबी संकेतों से मरुट नहीं रह सकती।

सुन्दर और असुन्दर का भेद तो वास्तव में मनुष्य के दृष्टिकोण पर निर्भर है। खोजनेवाले के लिए बोधत्म में सुन्दर और सत्य मौजूद हैं। आगे चलकर इस बोधत्म का चित्रण ही कला का लक्ष्य बन जाता है। अपने आदर्शवादी रूप को लक्ष्य कर प्रेमचंद कहते हैं—“उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौंदर्य का परमोत्कर्ष देखे। उग्रवास और नग्नता में भी सौंदर्य का अस्तित्व सम्भव है, इसे कदाचित् वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौंदर्य सुन्दर स्त्री-रूप में है—उस बच्चोंवाली गरीब रूपरहित स्त्री में नहीं, जो बच्चे को खेत की मेड़ पर सुलाए पसीना बहा रही है। उसने निश्चय कर लिया है कि रंग, होठों, कपोलों और भौहों में निस्सन्देह सुन्दरता का वास है,—उसके उबके हुए बालों पपड़ियाँ पड़े हुए होठों और कुम्हलाए हुए गालों में सौंदर्य का

प्रवेश कहाँ ?” लेकिन जीवन में इसी गरीबी और भोकेपन से हम परेशान रहते हैं ; साहित्य में उसकी पुनरावृत्ति देखकर हम चिढ़ेंगे नहीं ? क्या उससे हमारा मनोरंजन सम्भव है ? जो मेहनत करते हैं उनके गाल सूखे हैं, ओठों पर पपड़ियाँ पड़ी हैं और जो उनकी कमाई से महल में बैठे मौज करते हैं उनके गालों और ओठों पर रंगीनी है— क्या यह चित्र हमें निराश न बना देगा ? साहित्यकार को यह न दिखाना चाहिए कि मेहनत करने पर रंगीनी इन गरीबों के ही चेहरे पर है और महल में आराम करनेवाली के गाल सूख गए हैं ! क्या आदर्शवाद की रक्षा ऐसे ही चित्रण से न होगी और आदर्शवादो दृष्टिकोण से क्या उन्नति भी इसी मार्ग से सम्भव नहीं है ? आदर्शवाद की उन्नति वास्तव में अवनति है ; यथार्थ में भागकर कालान्तरिक स्वर्ग में शरण लेनेवाले आशावाद का जोरों से खंडन करते हुए प्रेमचंद कहते हैं —“उन्नति से हमारा तात्पर्य उम्र स्थिति में है जिसमें हममें हृदय और कर्मशक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमें दुःखावस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि किन अंतर्बाह्य कारणों से हम इस निर्जीवता और हास की अवस्था को पहुँच गए, और उन्हें दूर करने की कोशिश करें।” साहित्य का यह लक्ष्य मान्य और हमारी चेष्टाओं को अपने और केंद्रित करने योग्य है। साथ ही वह प्रेमचंद के आदर्श और यथार्थ के संघर्ष को भी भलीभाँति स्पष्ट कर देता है।

आदर्श और यथार्थ के संघर्ष से मिलता-जुलता हृदय और मस्तिष्क तथा कला और उद्योगिता का भगड़ा है। प्रेमचंद बुद्धिवाद में साहित्य को वैसा ही बचाना चाहते हैं जैसे उसे यथार्थवाद से। इसका कारण भी बहुत कुछ बड़ा पुराना भय है कि बुद्धिवाद उन्हें संसार के कटु सत्यों का सामना करने के लिए बाध्य करेगा। वह कहते हैं : “भव पूछिए तो कला और साहित्य बुद्धिवाद के लिए उपयुक्त ही नहीं। साहित्य तो भावुकता की वस्तु है, बुद्धिवाद की

यहाँ इतनी ही जरूरत है कि भावुकता बे-लगाम होकर दोड़ने न पाए ।”+ साहित्य में भावुकता एक बहुत सस्ता चीज है, जिसका अभाव ही आजकल साहित्य को ऊँचा बनाता है। जो चीज मीठी-मीठी दिल को लुभानेवाली लिखी जाती है, उसे बचकानी कहकर हम टाल देते हैं। लेकिन, प्रेमचंद का मतलब इस सस्ती भावुकता से नहीं। वे भावुकता के अन्तर्गत मनुष्य को उन सभी प्रवृत्तियों को लेते हैं जो व्यक्तिगत स्वार्थ से रहित पूरे समाज के हित के लिए हैं। भावुकता की भ्रष्टता दिखाने का वह एक विचित्र उदाहरण देते हैं। मान लीजिए, एक स्त्री को कुछ लम्पटों ने घेर लिया और आप अकेले उसकी रक्षा नहीं कर सकते। यहाँ बुद्धिवाद कहेगा, अकेले पाँच से कैसे जीतोगे, चलो भाग चलें। लेकिन भावुकता कहेगी, एक स्त्री की रक्षा करना तुम्हारा धर्म है—चाहे प्राण चले जायँ; लेकिन उसे इन दुष्टों के हाथ से बचाना होगा। ऐसी परिस्थिति में भावुकता मनुष्यता है; बुद्धिवाद वहाँ कायरता बन जाता है। प्रेमचंद भावुकता का सम्बन्ध हृदय से मानते हैं। और, मनुष्य के हृदय में सत्कर्म की प्रेरणा स्वभावतः मौजूद है। इसलिए जब वह भावुकता का सहारा लेगा, तो अवश्य सत्कर्म की ओर प्रेरित होगा। वास्तव में यदि वीरता का भाव हृदय से उत्पन्न होता है, तो वहीं से कायरता के भाव की भी उत्पत्ति माननी होगी। एक ही के लिए हृदय उत्तरदायी नहीं हो सकता। ऊँर के उदाहरण के विपरीत हमारे सामने बैरगिया नाला के ठगों की कथा है। वहाँ भावुकता से कथक दुःसाहसो न हुए, वरन् बुद्धि से काम लेकर एक-एक पर तीन-तीन मिलकर वार करने लगे और इस तरह से बुद्धि द्वारा विजयी हुए। प्रेमचंद को बुद्धिवाद से इसलिए भय नहीं है कि वह कायरता है, वरन् इसलिए कि वह उनके आदर्शवाद की भावुक कल्पना को टहा देता है।

जब साहित्य हृदय की वस्तु हो जाता है, तो उसका ध्येय भी

आनन्द उत्पन्न करना रह जाता है। साहित्य से रस की सृष्टि उसका ध्येय आनन्दमात्र होना, प्रेमचंद की 'भारतीयता' का प्रमाण है। विदेश में भी रोमांटिक-कवियों ने साहित्य का ध्येय आनन्द माना है, और जब उपयोगितावादियों से संघर्ष हुआ है, तो उन्होंने आनन्द को ही उपयोगिता सिद्ध की है। साहित्य का आनन्द ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है और उसे सत्कार्यों की ओर प्रेरित करता है। इसका एक उदाहरण शेली की 'डिफेंस आफ पोएजी' में है ॥ एक जगह प्रेमचंद कहते हैं सत्य से मनुष्य का तीन प्रकार का सम्बन्ध होता है। एक जिज्ञासा का, जो दर्शन का विषय है, दूसरा प्रयोजन का, जो विज्ञान का विषय है और तीसरा आनन्द का, जो साहित्य का विषय है। सत्य की उपयोगिता, इस तरह विज्ञान का विषय बनती है। जहाँ साहित्य में प्रयोजन होगा, वहाँ वह उतना ही वैज्ञानिक और भावुकता से रहित होगा। उसका सम्बन्ध हृदय से न होकर मस्तिष्क में जुड़ जायगा। परन्तु बाद में वह इसी आनन्द में उपयोगिता की भी खोज करते हैं। उपयोगिता का प्रश्न जब एक रोमांटिक को पूरी तरह भ्रमभोरता है तब तक आनन्द को ही उपयोगी सिद्ध करने को चेष्टा करता है। उसी तरह प्रेमचंद भी कहते हैं—“मुझे यह कहने में दिक्कत नहीं है कि मैं और चीजों को तरह कला की भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निःसंदेह कला का उद्देश्य सौंदर्य-वृत्ति को पुष्टि करना है, और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुंजी है। पर, ऐसा कोई रुचिगन मानविक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं, जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनन्द स्वतः एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है, और उपयोगिता की दृष्टि से एक ही वस्तु से हमें सुख भी होता है और दुःख भी। प्रकृति का विधान वृद्धि और विकास है, और जिन भावों, अनुभूतियों और विचारों से हमें आनन्द मिलना है, वे इसी वृद्धि और विकास के सहायक हैं। कलाकार अपनी कला से सौंदर्य की सृष्टि करके परिस्थिति

को विकास के उपयोगी बनाता है। "बात वही पुरानी है—“आनन्द हममें आगे बढ़ने और विकसित होने की क्षमता उत्पन्न करता है। मनुष्य को कर्म के लिए प्रेरणा हृदय से मिलती है; आनन्द इस प्रेरणा-केंद्र को भी प्रभावित करता है, और इसलिए मनुष्य में सत्प्रेरणाओं का भी जन्म होता है। उदाहरण के लिए तुलसीदास की रामायण का आनन्द लेकर एक व्यक्ति राजनीति के समर में कूद सकता है; क्योंकि साहित्यिक आनन्द उसके अन्दर दूसरों के दुःख समझने की क्षमता और उन्हें दूर करने का साहस उत्पन्न करता है।”

साहित्य का मुख्य ध्येय अब भी आनन्द उत्पन्न करना ही है— उपयोगिता उसी के साथ गीण रूप से आती है। लेकिन, साहित्य के प्रति जैसे प्रेमचंद का दृष्टिकोण आदर्शवादी ही न रह यथार्थवादी भी हुआ, वैसे ही उपयोगिता आनन्द की भावना को नहीं। वरन् उपयोगिता की भावना को उत्तरदायी बताते हैं। “साहित्य का जन्म उपयोगिता की भावना का ऋणो है। जो चतुर कलाकार है, वह उपयोगिता को गुप्त रखने में सकल होता है, जो इतना चतुर नहीं है, वह उपदेशक बन जाता है और अपनी हँसी उड़वाता है।” साहित्य में उपयोगिता छिपाई जाती है तो इसलिए कि साहित्य अधिक उपयोगी हो सके। उपयोगिता अपने निरावरण रूप में लोगों को चौंका देगी; इसलिए उसे आनन्द के वस्त्र पहनाना जरूरी है। फिर जैसे यथार्थ और जीवन के संघर्ष को प्रेमचंद ने जोरदार शब्दों में साहित्य का ध्येय धोषित किया था वैसे ही वह साहित्य की सिद्धि आनन्द से नहीं, उपयोगिता के सूत्र से करते हैं। वह कहते हैं—“मेरा पक्का मन है कि परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सभी कला उपयोगिता के सामने घुटने टेकती है। प्रोपेगेंडा बदनाम शब्द है; लेकिन आज का विचारोत्पादक, बलदायक, स्वास्थ्यवर्द्धक साहित्य प्रोपेगेंडा के सिवा न कुछ है, न हो सकता है, न होना चाहिए, और इस तरह के प्रोपेगेंडा के लिए साहित्य से प्रभावशाली कोई

साधन ब्रह्मा ने नहीं रचा ।” आखिर पलड़ा ही उलट गया । यही नहीं कि साहित्य का ध्येय प्रचार है, अपितु प्रचार का वह सर्वभ्रष्ट साधन भी है ।

ऊपर दिए गए उद्धरणों से प्रेमचंद का संघर्ष भली भाँति समझ में आ जाना चाहिए । एक ओर उनमें होते युग की आदर्शवादी भावना है जो ठीक-ठीक बुद्धिवादी दृष्टिकोण से यथार्थ का सामना करने से हिचकती है ; दूसरी ओर उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण है जो सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर तीव्र प्रकाश डाल, उसकी बोधत्स नग्नता को हमारे सामने ला खड़ा करता है । इसी कारण वह पुराने युग की विचार-धारा से प्रभावित होते हुए भी नए युग के साथ हैं । उनकी गिनती उन लेखकों में है, जो एक युग की भावना को अगने भीतर केंद्रित कर दूसरे युग के लिए मार्ग प्रशस्त कर जाते हैं । अगने आदर्शवाद के कारण कहीं-कहीं वह समस्याओं का उचित निराकरण नहीं कर पाते ; उनकी भावुकता उन्हें एक कलित समझौता ढूँँद निकालने के लिए बाध्य करता है । कहीं-कहीं समस्याओं का उनकी पूरी जटिलता के साथ वह पेश भी नहीं करते । परन्तु, यह दूसरा दोष, जो आदर्शवादी लेखकों की खास कमजोरी है, प्रेमचन्द पर सबसे कम आरोपित किया जा सकता है । वास्तव में उनका आदर्शवाद उनकी बुद्धि का परिणाम था—बुद्धिवाद का एक परिवर्तित रूप । जिस बुद्धिवाद से उन्हें भय था, और जिससे वह साहित्य का रचा करना चाहते थे, वही आदर्शवाद के विकृत रूप में उनकी रचनाओं में प्रकट हुआ है । उनकी आंतरिक मनोवृत्ति यथार्थवाद की ओर थी । इसका प्रमाण यह है कि अन्य आदर्शवादियों की भाँति उन्होंने एक निश्चित परिणाम की सिद्धि के लिए अपने आचार को ही नहीं तोड़ा-मरोड़ा, सदाहरण के लिए यदि वह किसान और जमींदारों में वर्ग-संघर्ष नहीं चाहते थे, वरन् सोचते थे कि उनमें समझौता हो जायगा ; तो इसलिए उन्होंने किसानों

पर जमींदारों के अत्याचारों को कम करके नहीं दिव्वाया। आर्थिक शोषण का यथार्थ चित्रण, उसकी पूर्ण भयानकता के साथ उन्होंने किया है। दूसरा आदर्शवादी लेखक अपना निश्चित परिणाम सिद्ध करने के लिए यथार्थ के आधार को ही विकृत कर देता।

प्रेमचन्द की रचनाओं में अध्ययन के लिए सबसे महत्वपूर्ण यही समस्याएँ हैं। हमारे जीवन का शायद ही कोई पहलू छूटा हो, जिसको गुत्थियों को प्रेमचन्द ने सुलझाने की चेष्टा न की हो। हम उनके परिणामों से सहमत न हों; लेकिन नए युक्तिसंगत परिणाम निकालने के लिए यहाँ से अधिक यथार्थ आधार अभी दूसरी जगह न मिलेंगे। प्रेमचन्द भारतीय जीवन के भिन्न-भिन्न अंगों से परिचित थे, और उनका-सा परिचय हमें अन्य किसी भी भारतीय साहित्यिक कृतियों में नहीं मिलता। नए प्रगतिशील लेखक साहित्य में अपने मार्क्सवादो सिद्धांत प्रतिपादित कर रहे हैं; लेकिन जितना सुबोध उनके लिए समस्या का परिणाम है, उतनी समस्या नहीं। सामाजिक और राजनीतिक जीवन के विभिन्न अंगों से अभी उन्हें यह परिचय नहीं प्राप्त हुआ, जो प्रेमचन्द की कृतियों में मिलता है। इसलिए, यथार्थवाद का एक विशिष्ट आवरण पहने हुए भी ये नए लेखक वास्तव में प्रेमचन्द से अधिक आदर्शवादी हैं। प्रेमचन्द ने हमारे जीवन की समस्याओं की छानबीन की है—जीवन की कटुता का सामना किया है, इसलिए निराशावादो न हाकर जब वह हमारे सामने एक आदर्श रखते हैं तब रूखे से रूखे आलोचक के निकट भी उनका आदर्शवाद सत्य हो जाता है। नए लेखकों को प्रेमचन्द से सीखना है कि जीवन के किनने अंगों का विस्तृत ज्ञान उन्हें प्राप्त करना है, और परिणाम नहीं। तो कम से कम समस्या को किस प्रकार यथार्थवाद ढंग से साहित्य में पेश करना चाहिए; क्योंकि प्रेमचन्द का आदर्शवाद उनकी कृतियों के एक ही पहलू को बिगाड़ता है— वह है समस्या से एक सुन्दर परिणाम निकालनेवाला; परन्तु उनके

अन्तर बसा हुआ यथार्थवादी समस्या की जटिलता चित्रित करने में बहुत कम मेल-मुलाहिजा करता है। जहाँ उनका आदर्शवाद दब गया है और उन्होंने बरबस परिणाम ढूँढ़ने का प्रयत्न नहीं किया, या समस्या को ही सामने रखकर संतोष कर लिया है, वहाँ वे अद्वितीय हैं।

समाज के जिन-जिन अंगों पर प्रेमचंद ने प्रकाश डाला है, उनका अध्ययन करना अपने सारे सामाजिक जीवन का ही अध्ययन करना है। उनकी कृतियों की विवेचना से हम समस्याओं से ही परिचित न होगे, बल्कि परिणाम खोजने में उनकी अतार्किकता और आदर्शवादी दृष्टिकोण को समझकर आगे के लिए सचेत भी हो सकेंगे।

—डा० रामविलास शर्मा

प्रेमचंद की कृति

हिंदी-साहित्य में प्रेमचंदजी का स्थान निर्धारित करना भावी पीढ़ियों का काम है। आज हम उनके इतने निकट हैं कि उन्हें अच्छी तरह देख नहीं सकते। उनके व्यक्तित्व की छाप हमारे हृदय पर ऐसा लगी है कि केवल साहित्य की दृष्टि से उन्हें देखना सम्भव नहीं हो रहा है। वह व्यक्तित्व सहसा हमारे सामने से गायब हो गया है और हम उनकी स्मृति से प्रभावित हो रहे हैं। यह अवस्था साहित्यिक आलोचन के लिए अनुकूल नहीं। प्रेमचंद के व्यक्तित्व से सर्वथा अपरिचित साहित्यिक ही हिंदी वाङ्मय में उनका स्थान निर्धारित कर सकेंगे। आज हमारी प्रवृत्ति आलोचन की नहीं; बल्कि

गुण-ग्रहण की है। उनके स्वर्गारोहण के बाद आज हम उनके गुण ही गुण देख रहे हैं, और पश्चात्ताप करते हैं कि उनके जीवनकाल में हम उनका महत्त्व न समझ सके और न कदर कर सके। यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है; पर साहित्यिक गुण-दोष-विवेचन में बाधक है। यही कारण है कि हिंदी में प्रेमचंद का स्थान निर्धारित करने में प्रेमचंद के समकालीन साहित्यिक समर्थ नहीं हो सकते। एक कारण और भी है। जो प्रवाह में बहता जाता है, वह उसकी गति का निरीक्षक नहीं हो सकता; यह तो तटस्थ ही कर सकता है। यद्यपि साहित्य में प्रेमचंद का स्थान हम निर्धारित नहीं सकते; पर रग-रग में अनुभव करते हैं कि उनके प्रवाह में हम बड़े चले जा रहे हैं। कहा जा सकता है कि भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने साहित्यिक हिंदी का नामकरण किया और प्रेमचंद ने उसको मूर्त किया—रूप प्रदान किया। इन दो महानुभावों की प्रतिभा से हिंदी को नाम और रूप प्राप्त हो गया है। हरिश्चंद्र के प्रयत्न से हिंदी वह हिंदी हुई, जिसे आज हम हिंदी समझते हैं और आदर करते हैं। पर हरिश्चंद्र उसे वह रूप न दे सके जिसे हिंदी की समकालीन भाषाओं के अभिमानो भी देख सकें। यह काम प्रेमचंद ने किया। वह स्थायी है अथवा अस्थायी, दिन-प्रतिदिन अधिकतर स्पष्ट होनेवाला है अथवा किसी अन्य लेखनो से अन्य रूप को जन्म देकर स्वयं अस्पष्ट हो जानेवाला है, इसका निर्णय भविष्य ही करेगा।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने हिंदी का नामकरण किया, उत्तर भारत के हिंदू में उसके प्रति अभिमान उत्पन्न किया; पर उनके बाद उनका पदानुसरण करनेवालों को भाषा का आदर्श अन्यत्र ढूँढ़ना पड़ता था। हरिश्चंद्र के समकालीन और परवर्ती लेखक ब्रज-साहित्य और रामचरितमानस से प्रभावित थे, कुछ पर संस्कृत-साहित्य का भी अन्धका प्रभाव पड़ा था। स्वर्गीय गुरुवर्य पंडित गोविंदनारायण मिश्र की रचनाओं में बाणभट्ट की शैली प्रतिबिंबित हो रही है वही आज,

वही ध्वनि, वही रचना-कौशल । कादम्बरी के ढंग पर आप हिंदी में भी एक प्रबंध की रचना कर रहे थे । कुछ अंश लिखा भी जा चुका था, पर उपन्यास पूरा न हो सका । पूरा इसलिए न हो सका कि गोविंदनारायणजी जीवन के अन्य भगड़ों में व्यस्त रहा करते थे और उनके साहित्य का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था । राजा लक्ष्मणसिंह, पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित अम्बिकादत्त व्यास, आदि, हरिश्चंद्र के बाद के, पर हमारे लिए अब प्राचीन, सब साहित्यिकों के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है । उनका जीवन कुछ और साहित्य कुछ और था । प्राचीन पद्धतियों का अनुसरण और प्राचीन समयों का रक्षण, यही उनके लिए साहित्य था । उस साहित्य का समाज से या जीवन से कोई सम्बन्ध न था । अतः हिंदी के साधारण लेखकों को जीवन-साहित्य का आदर्श पड़ोसी बँगला साहित्य में ढूँढ़ना पड़ता था, जो दिन दूनी रात चौगुनी उत्पन्न करता जा रहा था । जीवन के प्रश्नों का, सामाजिक समस्याओं का, राजनीतिक कठिनाइयों का हल उस समय के लेखक बँगला साहित्य में ढूँढ़ा करते थे । विशेषकर हिंदी के समाचार-पत्र तो अधिकतर बँगला समाचार-पत्रों की ही नकल हुआ करते थे—अभिकांश में केवल अनुवाद । परिणाम यह हुआ कि हरिश्चंद्र के बाद की हिंदी बँगला हिंदी हो गई । उसे पुनश्च हिंदी बनाने का श्रेय प्रेमचंद को ही है ।

प्रेमचंद की हिंदी हिंद की अपनी चीज है । उस पर उर्दू का छाया जरूर पड़ा है, पर उर्दू भी तो हिंद की ही भाषा है ; किसी अन्य देश से यहाँ नहीं आई है । उर्दू लेखकों में अच्छा स्थान प्राप्त कर लेने के बाद प्रेमचंद का हिंदी को अपने विचार प्रकट करने का माध्यम बनाना उस सत्साहस का काम था, जिसका उनके जीवन में पद पद पर परिचय मिलता है । उनकी प्रारम्भिक कृतियों में हिंदी भाषा भ्रष्ट और शिथिल अवश्य थी, पर शीघ्र ही उसमें वह तेजस्विता और सरलता, वह भाव-व्यंजकता और माधुरी आ गई,

जो हिंदी-साहित्य में एक नई बात थी। इसका कारण यह है कि प्रेमचंद प्रकृति के पुत्र थे, उनकी प्रतिभा नैसर्गिक थी, साहित्य का आदर्श उन्हें निर्माण करना था, न कि अन्य आदर्श को मसूख रखकर उसका अनुकरण करना। प्रेमचंद के पात्र अपने थे, भाषा अपनी ही कल्पना अपनी थी। विचार और सद्मानुभूति समाज के उन्नतिशील साहित्य के अध्ययन का फल था। यही कारण है कि उन्होंने जो कुछ लिखा, मौलिक लिखा और उसकी पेरणा उन्हें समाज से हुई—विशेषकर ग्रामीण समाज से। इस सम्बन्ध में हम प्रेमचंद क तुलना इंग्लैंड के चार्ल्स डिक्केन्स से कर सकते हैं। डिक्केन्स और प्रेमचंद दोनों ही जनता के आदमी थे। समाज के निम्न स्तर की भीषणता में रह चुके थे, उसमें परिचित हो चुके थे, उसके साथ उनकी सद्मानुभूति थी, उसी से उन्होंने अपने पात्र लिए और उसी के सुधारने का यत्न किया। दोनों ही मंजुचित अर्थ में 'अशिक्षित' थे। अर्थात् प्राचीन साहित्य की और उसके नियमों की शिक्षा उन्हें नहीं मिली थी। दोनों की प्रतिभा स्वाभाविक थी, दोनों ही जनता के आदमी थे। मध्यम और उच्च वर्ग के पात्र का चित्रण न डिक्केन्स कर सके और न प्रेमचंद ही कर सके। यत्न दोनों ने ही किए हैं पर विफल। गरीब गात्र दोनों के मजबूत हैं; वे आपसे बोलते हैं, आपके साथ हँसते और आपके साथ रोते हैं। ओलिवर ट्विस्ट में बिदा लेते समय जो एक मधुर वेदना होती है, होरी से बिदा लेते वक्त हमें उसी का अनुभव हुआ। डिक्केन्स और प्रेमचंद का साम्य यही समाप्त हो जाता है। इसके बाद दोनों के मार्ग दो भिन्न दिशाओं को जाते हैं। एक आशावादी है; दूसरा दुःख में है, दुःख देखता है और उसे दूर करने का उपाय ढूँढ़ता है। कहीं कुछ बता भी जाता है, कहीं केवल समस्या उपस्थित करके अपनी कहानी के धागे आप ही तोड़कर मानो अपनी जान छुड़ा लेता है।

यह प्रेमचंद का दोष नहीं बल्कि गुण है। समय का प्रतिबिम्ब

उनके हृदय पर स्पष्ट हो रहा है। मूक जनता की आद वह सुनते हैं और सुना जाते हैं पर इसकी दवा नहीं बताते—शायद नहीं जानते। कौन जानता है ? सब अपनी-अपनी कह रहे हैं पर भविष्य के परदे के उस पार क्या है, यह बतानेवाला ऋषि कौन है ? एक महात्मा गोंधो दिखाई देते थे और स्वभावतः प्रेमचंद उनकी ओर आकृष्ट हो गये। गरीबों के प्रति सहानुभूति और भारतीय संस्कृति का अभिमान, ये दो विशेषताएँ प्रेमचंद में बहुत अधिक मात्रा में मिलती हैं, और वह भी समय का प्रभाव है। प्रेमचंद समय से प्रभावित हुए हैं। साहित्यकार की यह विशेषता है। समय को प्रभावित करनेवाला ऋषि अवतार या पैगंबर कहलाता है। प्रेमचंद के लिए इसका दावा उनका अंधभक्त भी नहीं कर सकता। प्रेमचंद साहित्यिक थे और ऊँचे दर्जे के साहित्यिक थे। जीवन से उन्होंने मसाला लिया और वे मूर्तियाँ तैयार करके हमारे सामने रख दीं जो जीवन के अंगों की प्रतीक हैं। उन मूर्तियों में हम समाज को देखते हैं, उसकी आकांक्षाओं की कल्पना करते हैं, उसके दोषों पर हँसते हैं, उसकी त्रुटियों को ओर भी लाचार बिच जाने हैं। यही प्रेमचंद की कला है। वह हमें अपनी बुराइयों को दिखाती है पर चिढ़ाती नहीं। हँसा-खिलाकर और रुलाकर भी आत्म-सुधार की आवश्यकता बताती है। गरीबों के मित्र प्रेमचंद ने धनी निकम्मों की निंदा की है, पर ऐसे शब्दों में और इस ढंग से कि उसे पढ़कर धनी भी क्रुद्ध नहीं हो सकता, लज्जित होता है। इसका एक कारण है। प्रेमचंद के पात्र व्यक्ति नहीं होते, वे वर्गों के प्रतीक होते हैं। कोई व्यक्ति हो तो उससे प्रेम भी किया जा सकता है, ईर्ष्या भी की जा सकती है, घृणा और क्रोध भी। पर वर्ग के प्रतीक के सामने ये भावनाएँ कुंठित हो जाता हैं। हम उसे पड़ोसी में देखते हैं, अपने चारों ओर देखते हैं, पर अपने आप में नहीं देखते। अतः वह हमारा आदर पाता है, हमें अचंभे में डालता है, रुलाता है, हँसाता है। बुरा होने पर भी हम

उसे छोड़ना नहीं चाहते। इसका कारण यहाँ है कि प्रेमचंद के पात्र में व्यक्ति नहीं वर्ग के दोष-गुण पाये जाते हैं, अतएव हमारा व्यक्तित्व उनसे अपने आपको अलग समझता है। उन पात्रों से हमारी सहानुभूति होती है, समवेदना होती है, पर एकत्व की प्रतीति नहीं होती। उनके दोष हम समाज में देखते हैं, पर स्वयम् उनसे ठसी प्रकार अलित रह जाते हैं जमे समाज का होकर भी एक सुधारक अपने आपको उससे अलग समझकर उसका टोकाकार—आलोचक बन जाता है। अनेक आलोचकों का यह अभियोग है कि प्रेमचंद के पात्रों का व्यक्तित्व अच्छी तरह परिष्कृत नहीं होता, वह अव्यवस्थित फूल-सा रह जाता है। इसका उत्तर यही है कि उनके पात्र व्यक्ति होते ही नहीं, वर्ग के प्रतीक होते हैं। वर्ग के दोषगुण उनमें भली-भाँति दिखलाई देते हैं और किसी भी प्रसंग पर वे वर्ग-मनोवृत्ति से ही काम करते हैं। उनमें विशेष व्यक्तित्व को छूँदना व्यर्थ है। प्रेमचंद की विशेषता का कारण यह है कि वे पहले सुधारक और बाद में कलाकार हैं। प्रेमचंद ने कला के लिए पात्र-सृजन नहीं किया है; कला की खूँटी पर अपने सुधारक विचारों को टाँग दिया है। उनके अंतिम उपन्यास 'गोदान' में इसका अच्छा परिचय मिलता है। 'गोदान' प्रेमचंद का अंतिम गोदान है—उनके अपने व्यक्तित्व का, अभिलाषाओं और विचारों का आदर्श है।

'गोदान' का होरी गरीब स्थिति के किसान का प्रतीक है; उसका व्यक्तित्व उस वर्ग का व्यक्तित्व है। वह परिश्रमी है, कुटुम्ब वत्सल है और धर्मभीरु भी है। लंठी लेकर बाघ का सामना कर सकता है, पर लाल पगड़ी देखते ही उसका सारा पुरुषत्व हवा हो जाता है। पराधीनता में अच्छे-अच्छे पुरुषों को जो स्थिति होती है, वही होरी की भी है। वह धर्मभीरु है सामाजिक दृष्टि से, पर नर को नारायण बनानेवाला धर्म उसमें नहीं। अपने सगे भाई के हिस्से के दो-चार रुपए दबा जाने के लिए वह तीसरे को अधिक लाभ दे सकता है

उसी भाई के घर की लजाशी पुलिस ले यह बात उसे अभ्य हो
ती है ; क्योंकि इसमें कुल का अपमान है । इस अपमान से,
कलंक से कुल को बचाने के लिए वह स्वयम् महाजन से कर्ज
सकता है । वही भाई जब उसको गायक' हत्या करके भाग
ना है तो वह अपनी खेतों की उपेक्षा करके उसको खेतों कर देता

जिसमें लोग यह न कहें कि अनाथा भावज की सहायता उसने
की । एक और भाई और भावज के लिए इतना त्याग और
रो और उसी भाई के दो-चार रुपए के लिए ठगने की तैयार !
जुकल के समाज का कैसा यथार्थ चित्र है ! यह चित्र दो होरी है ।
। वर्ग है, व्यक्ति नहीं । आज भारतीय समाज में भूट खोलना,
ब करना, ठगना बुग नर्त समझा जाता । होगे भी नहीं समझता ।
भाई में भयंकर भगड़ा टा, कोई बिना नहीं । भाई का खून
मई कर सकता है । उसको ममत्ति भी दत्तम कर सकता है ;
जब तक वह बालक है, तब तक उसका पालन करना हा हागा,
तो समाज निंद करेगा । सामाजिक व्यवहार धू-धाम में होना
चाहिए ; इसी में कुल का मर्यादा है । व्यक्तिगत आचरण कैसा
दुर्गुणत क्यों न हो, बुग या पार नहीं समझा जाता । पैतृक परिवार
कलाना अब भी काम कर रही है । व्यक्तिगत मद्गुणों का लोप
गया है । सामाजिक सदाचार विकृत रूप में जीवित है, व्यक्तिगत
चार का बिल्कुल लोप हो गया है । होरी में इसका चित्र खोचा
है । शायद प्रेमचंद का यह उद्देश्य न हो, पर वह तो वर्ग को
देखने से और समझने से । होरी ऐसा ही एक पात्र है । उसमें
भी विशेषताएँ हैं, पर वे भी उसका व्यक्तित्व परिस्पष्ट नहीं
हैं । होगे व्यक्ति हमारे सामने उपस्थित नहीं होता, वह वर्ग
स्थित होता है जिसके होरी, होरा और भोला प्रतीक हैं । होरी का
का गोवर, शुरू-शुरू में एक व्यक्ति-मा मालूम होता है सही, पर
। में वह भी वर्ग में लुप्त हो जाता है । पाठक उसमें गरीब और

अज्ञान, शोषित और 'अभिमानि वर्ग' को देखते हैं और उसके लिए समवेदना का अनुभव भी करते हैं।

जिस विकृत धर्म का ऊपर चर्चोचिन्त किया गया है उसका एक जगह 'गोदान' में प्रेमचंद ने स्पष्ट शब्दों में परिचय दिया है। मातादीन ब्राह्मण-पुत्र है। उसकी आशनाई एक चमारिन से हो गई है। यह बात सारा गाँव जानता है, पर मातादीन के पास पैसा है वह सबेरे स्नान-संध्या और पूजा करता है, और चमारिन को अपने घर में नहीं, अन्यत्र रखता है। उसके हाथ का खाता भी नहीं। अतः वह समाज का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति है। उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। क्यों?—सुनिष्ट प्रेमचंदजी के ही शब्दों में—'हमारा धर्म है हमारा भोजन। भोजन पवित्र रहे, फिर हमारे धर्म पर कोई आँच नहीं आ सकती। रोटियाँ ढाल बनकर अधर्म से हमारी रक्षा करती हैं।' स्थिति का कैसा सच्चा वर्णन है? पर इसमें एक त्रुटि है। रोटियों की इस ढाल की आवश्यकता भी ग्रामों में हो जाती है। शहरों में इसकी भी जरूरत नहीं। सब अपराध मान हैं बशर्ते कि आप ब्याह-शादी में समाज की रीतियों का पालन करते रहें और सुधारकों को गालियाँ दें। चमारिन से आशनाई कीजिए या घर की ही किसी विधवा का सर्वनाश करके उसे घर से निकाल दीजिए, आप धर्मात्मा हो समझे जायँगे। ऐसे धर्म के मूल में कुठाराघात करके सदाचारमूलक धर्म की पुनः स्थापना करना प्रेमचंद-साहित्य का लक्ष्य है। अपना यह अभिप्राय वह कहीं स्पष्ट शब्दों में पर सर्वत्र व्यंजना से वा ध्वनि से व्यक्त करते पाए जाते हैं। प्रेमचंद सुधारक अवश्य हैं, पर उसके साथ-साथ भारतीय संस्कृति के पूर्ण भक्त भी हैं। उनके सुधार का अर्थ पश्चिम का अन्ध अनुकरण नहीं है। 'गोदान' उनकी अन्तिम कृति है। यह उपन्यास लिखते समय आप पाश्चात्य साम्यवाद का भी अध्ययन कर चुके हैं, जिसकी झलक इस ग्रंथ में सर्वत्र दिखाई देती है। फिर भी आप उसका अनुकरण नहीं कर

रहे हैं। कहीं अपने पात्रों के मुँह से उस पर टीका भी कराते हैं। यही बात स्त्री-शिक्षा और पारिवारिक—वैवाहिक—जीवन के सम्बन्ध में भी है। सर्वत्र उनका आदर्श भारतीय संस्कृति है, पश्चिम का अनुकरण नहीं। स्त्रियों के पुरुषों के समान अधिकार पाने के दावे का उत्तर प्रेमचंद ने दर्शनाचार्य मि० मेहता के मुँह से दिलाया है। स्त्रियों के साथ पुरुषों ने अन्याय किया है, इस बात को स्वीकार करके वे कहते हैं—“अन्याय को मिटाइए, पर अपने को मिटाकर नहीं।” और भी—“समाज में सबसे बड़े अधिकार सेवा और त्याग से मिलते हैं और वह आपको (स्त्रियों को) मिले हुए हैं।

मुझे खेद है, हमारी बहनें पश्चिम का आदर्श ले रही हैं, जहाँ नारी ने अपना पद खो दिया है और स्वामिनी से गिरकर विलास की वस्तु बन गई है। पश्चिम की स्त्री स्वच्छन्द होना चाहती है, इसलिए कि वह अधिक से अधिक विलास कर सके। हमारी माताओं का आदर्श कभी विलास नहीं रहा। उन्होंने केवल सेवा के आदर्श से सदैव गृहस्थी का संचालन किया है। पश्चिम में जो चीजें अच्छी हैं वे लीजिए। संस्कृति में सदैव आदान-प्रदान होता आया है, लेकिन अधो नैकलता मानसिक दुर्बलता का ही लक्षण है। पश्चिम की स्त्री आज गृह-स्वामिनी नहीं रहना चाहती। भोग की विदग्ध लालमा ने उसे उच्छृंखल बना दिया है। वह अपनी लज्जा और गरिमा को जो उसकी सबसे बड़ी विभूति थी, चंचलता और आमोद-प्रमोद पर होम कर रही है। जब मैं वहाँ को सुशिक्षित बालिकाओं को अपने रूप का, या भरी हुई गोल बांहों का, या अपनी नग्नता का प्रदर्शन करने देखता हूँ तो मुझे उन पर दया आती है। उनकी लालसाओं ने उन्हें इतना पराभूत कर दिया है कि वे अपनी लज्जा को भी रक्षा नहीं कर सकतीं। नारी की इससे अधिक और क्या अधोगति हो सकती है ?”

गोदान में प्रेमचंद के विचार परिपक्व हुए दिखाई देने हैं।

सामाजिक जीवन के प्रत्येक अंग पर इस ग्रन्थ में उन्होंने अपने दृष्टि-कोण से प्रकाश डाला है। वह कोण प्रेम का नहीं, सेवा और त्याग का है। महात्मा गांधी का पभाव स्पष्ट दिखाई दे रहा है। साम्यवाद का औचित्य स्वीकार करते हुए भा प्रेमचंद सर्वत्र सेवा और त्याग पर जोर देते दिखाई दे रहे हैं। इसे आप भारतीय संस्कृति समझते हैं। चित्त की उच्च-नोच वृत्तियों को बे-नकेल छोड़ देना और उन्हें समाज में स्वच्छंद विचरण करने देना आप नाराज और नरत्व के पूर्ण विकास में बाधक समझ रहे हैं। “युवतियाँ अब विवाह को पेशा नहीं बनाना चाहती। वे केवल प्रेम के आधार पर विवाह करेंगी।”— इस पूर्वपक्ष का खण्डन आप मि० मेइता से इस प्रकार करते हैं—“जिसे तुम प्रेम कहती हो वह भोग्वा है, उद्दण्ड लालसा का कविकृत रूप, उसी तरह जैसे संन्यास केवल भोग्य माँगने का संस्कृत रूप है। वह प्रेम अगर वैवाहिक जीवन में कम है तो मुक्त विलास में बिल्कुल नहीं है। सच्चा आनंद, सच्चा शान्ति केवल सेवा-व्रत में है। वही अधिकार का स्रोत है, वही शक्ति का उद्गम है। मेवा हो वह सोमिएट है जो दम्पति को जीवनपर्यंत स्नेह और साहचर्य में जोड़े रख सकता है, जिस पर बड़े-बड़े आघातों का भी कोई असर नहीं होता। जहाँ सेवा का अभाव है वहीं विवाह-विच्छेद है। परित्याग है, अविश्वास है। आपके (स्त्रियों के) ऊपर पुरुष-जीवन की नौका का कणधार होन के कारण जिम्मेदारी ज्यादा है। आप चाहें तो नौका को अधी और तूफान में भी पार लगा सकती हैं, और आपने असावधानी की तो नौका डूब जायगी, और उसके साथ आप भी डूब जायँगी।” यही मेइता एक जगह और कहते हैं—“मैं प्रकृति का पुजारी हूँ और मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता हूँ, जो प्रसन्न होकर हँसता है, दुखी होकर रोता है और क्रोध में आकर मार डालता है जो दुःख और सुख दोनों का दमन करते हैं, जो रोने को कमजोरी और हँसने को हलकापन समझते हैं, उनसे मेरा कोई मेल नहीं। जीवन मेरे लिए

आनन्दमय क्रीड़ा है ; सरल, स्वच्छन्द ; जहाँ कुत्सा, ईर्ष्या और जलन के लिए स्थान नहीं। मैं भूत की चिंता नहीं करता, भविष्य की परवाह नहीं करता। वर्तमान ही मेरे लिए सब कुछ है। भविष्य की चिंता हमें कायर बना देती है, भू। का भार हमारी कमर तोड़ देता है !

हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लादकर रूदियों और विश्वासों और इतिहासों के मलबे के नीचे दबे पड़े ।..... जो शक्ति, जो स्फूर्ति मानव-धर्म को पूरा करने में लगानो चाहिए थी, सहयोग में भाईचारे में, वह पुरानी अदावत का बदला लेने और बाप-दादों का शृण चुकाने की भेंट हो जाती है। और, जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्र है इसपर तो मुझे हँसी आती है। यह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकाष्ठा है, जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है और जीवन को सुखी बनना ही उपासना है, और मोक्ष है। जानी कहता है—
ओठों पर मुस्कुराहट न आये, आँखों में आँसू न आये। मैं कहता हूँ—अगर तुम हँस नहीं सकते और रो नहीं सकते तो तुम मनुष्य नहीं, पत्थर हो। वह जन जो मानवता का प्रेम डाले, जान नहीं है, कोल्हू है ।”

यह जीवन की फिलासफी है, जिसे प्रेमचंद ने पाठकों के सामने रखा है। प्राच्य त्याग और पाश्चात्य भोग, प्राच्य संयम और पाश्चात्य अनियम, ईश्वर पर अधविश्वास और मानवत्व में ईश्वरत्व को प्राप्त करने की लालसा, त्यागमय गतिविरिक जीवन और बाप-दादों के शृण को अस्वकार करने की कामना इन विचारों का संमिश्रण ‘गोदान’ में जगह-जगह दिखाई देता है। प्राच्य-पाश्चात्य संघर्ष से जीवन का एक शास्त्र ‘गोदान’ में क्रमशः विकसित हो रहा है, पर दुर्भाग्यवश, पूर्ण विकास नहीं होने पाता और प्रेमचंद जी हमें छोड़कर सहसा अन्तर्धान हो जाते हैं। इस समय हिन्दी-साहित्य की नौका कर्णधार-हीन प्रवाह में बहती चली जा रही है। भगवान् जाने उसे फिर दूसरा

कर्णधार कब मिलेगा। फिर भी हमारा साहित्य प्रेमचंद का सदैव कुतज्ञ रहेगा। हरिश्चन्द्र के बाद वह अग्रहार में टटोल रहा था, अपने पड़ोसियों से आन खाना लेकर उदर-पूर्ति कर रहा था। रसना विकृत हो रही थी। प्रेमचंद ने उसे आना घर दिखाया—जोवन से उसका सम्बन्ध कर दिया। हमारी भाषा को स्वाभाविकता प्राप्त करा दी। वह अपने बच्चों के मुँह से निकलने लगी। हिन्दी हिन्द की हुई। यह प्रेमचंद की हिन्दी का देन है। उसका भावी विकास भावी लेखकों पर निर्भर है, पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि प्रेमचंद ने हिन्दी-साहित्य को जनता का साहित्य बना दिया। उसके निर्मल जीवन में जन वर्ग के प्रतिबिम्ब दिखाई देने लगे हैं। प्रेमचंद के पात्र जन-वर्ग के प्रतिबिम्ब हैं, प्रेमचंद के विचार वर्गों को उठाने और मिलाने के भगीरथ प्रयत्न के द्योतक हैं। स्वयं प्रेमचन्द जनता के प्रतीक हैं। उनकी स्थूल देह अदृश्य हो गयी है, पर उनकी उज्ज्वल प्रतीक तब तब तक रहेगा, जब तक हिंदी रहेगी और उसके बोलनेवाले रहेंगे।

—बा० बि० पराङकर

प्रेमचंद की उपन्यास-कला

प्रेमचंद ने जब हिंदी साहित्य में पैर रखा, वह उसके जागृति का युग था। भरतेंदु ने जब लिखना शुरू किया, उस समय साहित्य और कला का पारखी केवल एक जरा-जीर्ण सामंतीय समाज था। कजा को समझनेवाले मध्य-वर्ग का जन्म हो रहा था। प्रेमचंद को पढ़नेवाली मध्य-वर्ग की जनता काफी तदाव में तैयार हो चुकी

थी। इसका कारण भारत में पूँजीवाद का आगमन था। इस जागृति के युग में हमारा कथा-साहित्य किसान-मैना और बैतालरचोसी, चंदकांता, भूतनाथ और मि० व्जेक के जासूसी कर्त्तव्य छान्द 'सेवामदन' और 'प्रेमाश्रम' की ओर मुड़ा।

अब भारत में पूँजीवाद अपना प्रगतिशील पार्ट पूरा कर संक्रांति कला में पहुँचा है और निर्मित समाज-व्यवधान शिथिल पड़ गया है; किंतु रुक नहीं शक्ति भी हमारे बीच उठ रही है, जो समाज का कायाकल कर हमें। फिर उन्नति के पथ पर अग्रसर करेगी। इस उन्नति के पथ में अनेक शक्तियाँ बाधा डाल रही हैं, किंतु उनकी पराजय निश्चित है।

हमारे इतिहास के इस लम्बे युग का पूरा विवरण प्रेमचंद के साहित्य में मिलेगा। साम्राज्यशाही के कारण भारतीय पूँजीवाद के विकास में बाधा पड़ती रही; किंतु गाँव में जर्जर सामंतशाही को पूर्ण सहायता मिली। नगर में वृद्ध मध्य-वर्ग और गाँव में निम्न श्रेणियों ने स्वाधीनता का झंडा ऊँचा किया; किंतु अभी उस महायज्ञ की पूर्णाहुति नहीं पड़ी है।

प्रेमचंद का साहित्य असल में भारतीय गाँव का आधुनिक इतिहास है। नगर में उन्हें कभी वास्तविक सहानुभूति नहीं हुई। गाँववाद के प्रभाव में वह गाँव का सरल, निर्मल जीवन अपना ध्येय मानते रहे। उनकी आशाएँ पोंडेपुर पर केंद्रित थीं, बनारस पर नहीं। भविष्य तो नगर के साथ है, किंतु भविष्य का नगर 'लाभ' के बल पर अवलम्बित न होगा।

प्रेमचंद की साहित्यिक दुनिया इसी विशाल भारतीय जन-समाज का प्रतिबिम्ब है। इस साहित्य में हमें उसका विस्तृत वर्णन मिलेगा। उसके संघर्ष, विजय, पराभव का विपद् चित्रण! प्रेमचंद की दुनिया एक खँडहर-मात्र है। चतुर्दिक यहाँ दैन्य, निराशा, दारिद्र्य का चित्र है; किंतु नवजीवन का संदेश भी इस समाज की रग-रग और कोपलों

में पहुँच चुका है, प्रकृति का यहाँ अद्भुत साज-शृंगार है। फाग, डफ, अहोर — और आम और महुए के पेड़ों पर कोयल की तान।

यह दुनिया अनेक खिलाड़ियों की रंगभूमि है। पल भर अपना पाट अदाकर वे, यहाँ से चले जाते हैं, एक मेले की पूरी भीड़ यहाँ मिलेगी, चक्का-मुक्की और तिल रखने को न ठौर। किसान, अहोर, पामी, अन्वे भिखारी, लोभी वगैरह, व्यवसायी पूँजीपति, जमींदार, रईस ओहदेदार, पंडे, मुल्ला, वृद्ध आबाल वनिता सभी इसी भीड़ में मौजूद हैं। यह विश्वामित्र की सृष्टि से अधिक सफल मानव की सृष्टि है और इसमें न्याय, विवेक, त्याग और आदर्श के हाथ आन्तम विजय है।

प्रेमचंद का साहित्य परिमाण में काफी है। सेवासदन, प्रेमाश्रम, बरदान, रंगभूमि, कायाकल, प्रतिज्ञा, निर्मला, कर्मभूमि, गवन, गोदान; इसके अतिरिक्त दो नाटक और अनेक कहानियाँ। इस साहित्य में दिव्य चक्षुओं से देखा हुआ जीवन का एक बहुत बड़ा अंश मिलेगा, अनेक आकर्षक व्यक्ति, साथ ही कहानी का आनन्द और जीवन का तथ्य।

‘सेवासदन’ में मध्य-वर्ग के पतन का एक चित्र है, जिसे आगे भी बार बार प्रेमचंद ने दुहराया है। आमदनी कम, खर्च अधिक, ऊपर सफेदपोशी का ढोंग। यह विडम्बना एक व्यक्ति अथवा परिवार की नहीं, पूरे समाज की है। कम वेतन-भागी, स्कूल-मास्टर का संकुचित जीवन, विलास की लालसा, समाज की दुर्व्यवस्था, पतित स्त्रियों का पथ—यह बीभत्स चित्र कलाकार ने खींचा। यह उसकी पहली उड़ान थी; किंतु पहली ही बार व्योम-विहारिणी बनी मध्य-वर्ग और नगर जीवन की असलताओं का इतना विस्तृत विवरण फिर प्रेमचंद ने नहीं किया; फिर वह गाँव की ओर झुक गए। जीवन में हाल की मही का चकर लगाकर उनकी कल्पनाओं ने ‘सेवासदन’ और ‘प्रेमश्रम’ की शरण ली।

‘प्रेमाश्रम’ में प्रेमचंद गाँव की ओर मुड़े। यह जर्ज सामंतशाही का पहला विस्तृत क्षेत्र उन्होंने खींचा। जमींदारी प्रथा का विषाक्त वातावरण, कुलनता की लाज, स्वार्थगता, त्याग, क्रिमान-समाज की दनता, अक्षमता; किंतु बढ़ती संगठित शक्ति। ‘गोदान’ में उन्होंने इस चित्र को दोहराया, बड़े रस और अलंकार-परिपूर्ण भाषा और भावुकता से; किंतु इस बार जमींदार के हृदय-विवर्तन की आशा प्रेमचंद छोड़ चुके थे।

‘रंगभूमि’ भारतीय समाज का एक व्यापक विशाल चित्र है। रंगभूमि है रईसों और पढ़ों का प्रिय काशीधाम और पास का गाँव। स्व० प्रेमचंदजी का गाँव है और सूरदास का मॉडल यहाँ उन्हें एक भिन्नारी मिला था। इस कथा के विशाल चित्रपर पर कलाकार ने अपनी तूलिका से सभी का चित्रण किया; हिंदू रईस रईसाई, बणिक, मुसलमान कुलोन गिरती दशा में, अंग्रेज अफसर, अहलकार, स्वयंसेवक, राजघराने, रियासतों की दलित-प्रजा, रूढ़ि का जकड़ा ग्रामीण समाज और कथा का सिंगताज अंधा फकीर सूरदास। घूम-फिक्कर कथा पंडिपुर में ही केन्द्रित होती है। कारण है सिगरेट की फैक्टरी, जिसके खुलने से गाँव में अनेक पातक फैलते हैं, अत्याचार होते हैं और अंत में जगृति होती है।

‘कायाकल्प’ में प्रेमचंद कुछ आध्यात्म की ओर ढुलके। यह प्रवृत्ति उनके साहित्य में सदा रही है। उनकी कहानों ‘मूँठ’ इसका उदाहरण है। पार्थिव जग में जो हम चर्म-चक्षुओं से देखते हैं, उसके पार कुछ है—यह धारणा बढ़कर ‘कायाकल्प’ में कथा-वस्तु का रूप विकृत करती है। इस कारण ‘कायाकल्प’ केवल सामाजिक कथा नहीं रही। वह व्यक्ति ने जन्म-जन्मान्तर, योगाभ्यास कायाकल्प आदि पंचड़ों में पड़ कुड़ राइडर हैगर्ड के शी’ का आकार-प्रकार ले बैठी है। साथ ही साथ उसमें पुराने कुलीनों के प्रति बड़ा मधुर व्यंग भी है—मुंशी वज्रधर के चित्रण में!

‘कर्मभूमि’ एक सार्वजनिक आन्दोलन का अध्ययन है। किस प्रकार जनता का बल चींटो के आकार से क्रमशः हाथी बन जाता है, इसका वर्णन इस कथा में है।

‘निर्मन्त्रा’ वृद्ध-विवाह का चित्र है। एक पूरा परिवार इसके कारण विगड़ जाता है। यहाँ विमाता का एक कुशल मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी है।

‘गबन’ हिन्दू गृह-कलह, हिन्दू नारी की आभूषण-लालसा और निम्न मध्य-वर्ग की विद्वम्बना और पतन का शक्तिशाली चित्र है। ‘गबन’ हिन्दू परिवार के कुण्ठित जीवन का गम्भीर खाका है। इस उपन्यास में हमें विशाल कलकत्ते के नगर-जीवन की भी झोंकी मिलती है।

‘गोदान’ में प्रेमचंद फिर गाँव की ओर मुड़े, नूतन उल्लास और रस लेकर।

‘गोदान’ वसंत के छायापट पर बनाया गया भिन्नमिल चित्र है। इसमें उनकी भाषा-यौवन-माधुरी छलकी पड़ती है। किंतु गाँव की दुर्दशा पर उनके आँसू भी निकल पड़ते हैं। इस भयानक संघर्ष और शोषण का उनकी कुपित, कुण्ठित आत्मा प्रतिकार नहीं देखता और ‘गोदान’ एक प्रकार से बिना अंत की कहानी है। होरी के निष्पण में कुशल कत्वाकार के हाथों में वही पुराने कारीगरी, प्रौद्योगिक और सफाई है।

इस कथा-प्रवाह में कलाकार के अनेक मन्सूबे, खिलवट, अद्वितीय कौशल, चिरसंचित यत्नलौन हैं। उनकी ओर हम एक विहंगम दृष्टि डालें।

प्रेमचंद हिंदी के तपस्वी कलाकार थे। सामाजिक क्रांति की भावना से उनकी रचना ओत-प्रोत है। स्वयं अपने जीवन में वह सक्रिय-क्रांतिकारी थे। उन्होंने आदर्श के लिये अपने को मिटा दिया। किंतु उनका सबसे महान क्रियात्मक प्रयोग उनकी रचना है।

संगठित सामूहिक शक्ति क्रांति का मार्ग है, यह हम निरंतर उनकी रचना में देखते हैं। हमारे दलित-वर्ग जरा-से नेतृत्व की आड़ पाकर संगठित होकर विजय के पथ पर बढ़ सकते हैं। यह हम 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' आदि कथाओं में देखते हैं। इस क्रांति का क्या रूप प्रेमचंद देखते थे ? ऐसी क्रांति जो सर्वव्यापक हो, जीवन के मिथ्या आदर्शों, झूठे सिद्धांतों का, पारिपाटियों का अंत कर दे। जो नये युग की प्रवर्तक हो, एक नई सृष्टि खड़ी कर दे ! (कर्मभूमि) हमारे दलित वर्गों के प्राण का संदेश इस क्रांति में है। गाँव के दीन, दुखी, शोषित श्रेणियों का, विशेषकर किसान का, युग-युग की संचित निरंकुशता से विकृत जमींदारी प्रथा, साथ ही पुलिस आदि का रोग यह क्रांति समाप्त कर देगी ! इस क्रांति की लहर दूर-दूर तक फैल कर समाज की मलिनता धो देगी !

उदाहरण के लिये धर्म का ढोंग लीजिये:—

मि० जॉन सेवक क्या तुम समझते हो कि मैं और मुझ जैसे और हजारों आदमों, जो नित्य गिरजे जाते हैं, भजन गाते हैं, आँखें बंद करके ईश-प्रार्थना करते हैं, धर्मानुराग में डूबे हुए हैं ! कदापि नहीं। धर्म केवल स्वार्थ-संगठन है। (रंगभूमि)

अथवा जेल-शासन लीजिये—

भोजन ऐसा मिलता था, जिसे शायद कुत्ते भी सूँघकर छोड़ देते, वस्त्र ऐसे, जिन्हें कोई भिखागी भी पैरों से ठुकरा देता, और परिश्रम इतना करना पड़ता, जितना बैल भी न कर सके। जेल शासन का विभाग नहीं, पाशविक व्यवसाय है, आदमियों से जबरदस्ती काम लेने का बहाना, अत्याचार का निष्कण्टक साधन (कायाकल्प)।

इस प्रकार सामाजिक अंधकार को कुरेदती कलाकार की अंतर्दृष्टि चांगी और पढ़ी है, और जहाँ पढ़ी है, और जहाँ भी पहुँची है, दिव्य-आलोक करके लौटी है।

भावना इस कलाकार की अंतर्ज्योति का साधन है। इस भावना

में देह, अदेह, जन, मग, पशु रँग जाते हैं और नवीन रूप में हमारे सामने आते हैं। इस व्यापक भावना के कारण ही प्रेमचंद की तुलना गोकर्ण से की गयी है। प्रेमचंद बुद्धिवादी थे; किंतु अंतरजित भावना ने उन्हें आदर्शवादी बनाया था और उनके बुद्धिवाद के पीछे यह प्रेरणा थी।

प्रेमचंद का एक प्रबल अस्त्र तीखे छूरे-सा उनका व्यंग्य है। क्रोध से क्षुब्ध जब उनकी कल्पना उग्र रूप ग्रहण नहीं करती, तब वे व्यंग्य का आश्रय लेते हैं। पंडों के वर्णन में उनका व्यंग्य उपहास से भर जाता है। अमीरों के चोचलों का वर्णन वह मीठे और कोमल बिनोद से करते हैं। आप कहते हैं, “तोंद के बगैर पंडित कुछ जँचता नहीं। लोग यही समझते हैं कि इनको तर माल नहीं मिलते, तभी तो तोंत हो रहे हैं। तोंदल आदमी की शान ही और होती है, चाहे पंडित बने चाहे पेंठ, चाहे तहसीलदार ही क्यों न बन जाय। (कायाकल्प)

प्रेमचंद जीवन के किसी भी अंग का चित्र बड़ी कुशलता और सुघड़ाई से खींचते थे। यही कलाकार की सबसे बड़ी विजय थी। कलम उठाया और नकशा खींचना शुरू किया। उनके हाथ में गजब की सफाई थी। इस निष्ठाकून में वह तन्मय, आत्म-विस्मृत हो जाते थे। कभी-कभी तो रंग जरूरत से ज्यादा गाढ़ा हो जाता था। सूरदास को लीजिये, एक अंधे भिखारी का वर्णन कर रहे हैं; उसमें इतने तन्मय हुए कि भूल गये, अंधा भिखारी गाड़ी के पीछे मीलों नहीं दौड़ सकता।

इस महान् चित्रशाला में हमें जीवन के सभी चित्र मिलेंगे। किंतु एक चित्र उन्होंने फिर-फिर दुहराया है; जर्जर भाग्यीय सामन्तशाही का दृश्य; कुण्ठित किसान और संकट में पड़ी जमींदारी प्रथा। भारतीय गाँव उनकी रंगभूमि है और किसान उनका नायक। उनकी सम्पूर्ण आशाएँ यहाँ केंद्रित हैं। ‘शहर अमीरों के रहने और क्रय-विक्रय का स्थान है। उसके मध्य भाग में उनके लड़कों की

पाठशालाएँ और उनके मुकदमेबाजी के अखाड़े होते हैं, जहाँ न्याय के बहाने गरीबों का गला घोंटा जाता है। शहर के आसपास गरीबों की बस्तियाँ होती हैं (रंगभूमि)। यह शहर के प्रति उनका दख है।

✓ प्रेमचंद की कथाओं में नाट्य दृश्य बहुत हैं। एक-एक घटना का वह तल्लोनता से वर्णन करते हैं। भारतीय रंगमंच के उत्थानकाल में वे नाटककार हुए होते। जो दृश्य उनकी लेखनी वर्णन करती है, उसे नेत्र मानों सजीव देखते हों; यह उनकी कला का विशेष चमत्कार है। इस नाट्य गुण के कारण उनकी कथा की गति में बड़ी तरलता, लचक और आकर्षण है। एक उदाहरण लीजिए—

‘निर्मला चटपट बाहर निकल आई। मुंशीजी उसके हाथ धुलाने लगे। मंगला चारपाई बिछाने लगी। मनोमा बरोठे में आकर रुक गई। इनका अँघेरा था कि वह आगे कदम न रख सको। मरदाने कमरे में एक दीवारगीर जग्न रहो था। भिनकू उतावली में उस उतारने लगे तो वह जमीन पर गिर पड़ा। यहाँ भी अँघेरा हो गया। मुंशीजी हाथ में कुपरी लेकर द्वार की ओर चले तो चारपाई की ठाक लगी। कुपरी हाथ से छुट पड़ी। अशा का दीयक भी बुझ गया।

(कायाकला)

प्रेमचंदजी के कथानक विशेष मनोरंजक होते हैं। पाठक को बरबस बाँध लेते हैं। खाना-पीना बिसर जाता है, तम्बाकू के बोरों के पीछे छिपकर पढ़े गए तिलस्माती उपन्यास आखिर काम आए। घटना-प्रवाह के उतार-चढ़ाव में प्रेमचंद सिद्धहस्त थे। ‘रंगभूमि’ उनका विशालकाय उपन्यास एक सौस में नहीं तो दो में रदा जा सकता है।

उनकी कथा-वस्तु की हलचल समुद्र की तरंगों के सदृश हैं। घटना आगे बढ़ती है, तूल पकड़ती है; फिर पीछे हट जाती है। कथानक में यह कशमकश अंत तक जारी रहती है। टेकनीक वही

जो 'बड़े घर की बेटी', 'पंच परमेस्वर' अथवा 'ईश्वरीय न्याय' आदि शब्दों में इतनी रुफ्त है। कथानक में शक्ति के साथ-साथ चंचल रहती है, जैसी लोहे की सलाखा में।

✓ चरित्र चित्रण में प्रेमचंद उस्ताद थे। उन्होंने हिंदी-साहित्य को अनेक अमर पात्र दिए हैं। छोटे-बड़े पात्र तो उनकी कथाओं में गणित भरे पड़े हैं; किंतु इनमें कुछ हमारी जीवन-लीला के बरसंगी बन गए हैं। सूरदास, विनय, अमरकांत अथवा होरी इतिहास अमर पात्रों से कम नहीं। इसी प्रकार स्त्रियों में सुमन अथवा सोफी भी समझना च दिए।

✓ प्रेमचंद को मनुष्य-स्वभाव का अरिमित ज्ञान था। बालक, बूढ़े, स्त्री-पुरुष सभी के स्वभाव को उन्होंने विशद व्याख्या की है। प्रेमचंद आदर्शवाद थे। मनुष्य का उनके मन में अपर आदर था। मरते हैं, मनुष्य आने से ही दूसरों को भी परखता है। प्रेमचंद बयम् विनोदी थे; यद्यपि उनके आदर्श का झंडा कभी नीचा नहीं आया। उनकी खुनकर हँसने की आदत अब भी उनके मित्रों की आद है। यह विनादशीलता और आदर्शवाद उनके चरित्र-चित्रण में भी मौजूद है। वह मनुष्य-स्वभाव का ऊँच-नीच पहचानते थे कि ऊँच से ऊँच भी नीचे दुर्लभ पड़ते हैं, और नीच-से-नीच भी श्वात्पाप की आग में जल ऊपर उठने की क्षमता रखते हैं। सूरदास और हारो के स्वभाव में भा दुर्बलताएँ हैं और काले खौ सरोखे और-डकुओं के मनो में कुछ भावनाएँ। इस उदारता-मिश्रित वाभावकता से प्रेमचंद के पात्रों की गदन हुई है।

यह चरित्र-निर्माण ही उनके कथानक को अगे बढ़ाता है। कथानक का स्रोत प्रेमचंद के जग में मनुष्य का चरित्र है, कोई देवी महेश्वर शक्त नहीं। चरित्र-निर्माण और घटना-जाल प्रेमचंद की कथा में एक अन्तरंग संगम में खरार बँधे हैं। दोनों मिलकर जीवन के दृढ़ ही विविध नकाशी वेष्ट करते हैं।

मनोविज्ञान की ठोस भूमि पर निर्मित यह कथाकार का चरित्र जग है। सूरदास के मन में भी एकआध बार प्रभुत्व की भावना चठती है। इन्दु के मन में सोफी के प्रति ईर्ष्या जागृत हो जाती है। अइल्या विलास की लालसा में उलझकर चक्रार को तज देत है। किंतु मनुष्य का स्वभाव ही है गिर-गिर कर उठना और आगे बढ़ । — बीच-बीच में प्रेमचंद मनुष्य-स्वभाव का विवेचन भी करते चंचते हैं:—

‘चंचल-प्रकृति बालकों के लिए अंधे विनोद की वस्तु हुआ करते हैं। सूरदास को उनकी निर्दय बाल-फ्रीडाओं से इतना कष्ट होता था कि वह मुँह ढँधेरे घर से निकल पड़ता और चिराग जलने के बाद झोड़ता। जिस दिन उसे जाने में देर होती, उस दिन विपत्ति में पड़ जाता था। सड़क पर राहगोरी के सामने, उसे कोई शंका न होती थी; किंतु बस्ती की गलियों में पग पग पर किसी दुर्घटना की शंका बनो रहती थी। कोई उसकी लाठी छीनकर भागता, कोई कहता— ‘सूरदाम, सामने गड्ढा है, बाईं तरफ हो जाओ ! सूरदास बाएँ घूमता, तो गड्ढे में गिर पड़ता।’..... (रंगभूम)

प्रेमचंद की भाषा ठेठ हिंदुस्तानी है, सीधी-सदी किंतु मँजो, प्रौढ़, परिष्कृत, संस्कृत पदावली से शुभ्र और उर्दू से चंचल। जो आलोचक कहने हैं कि हिंदुस्तानी में ऊँचे भावों की रक्षा नहीं हो सकती, उनके सामने प्रेमचंद की नज़ीर है !

‘सकीना जैसे घबरा गई। जहाँ उसने एक चुट्टी आटे का सवाल किया था, वहाँ दाता ने ज्योनार का एक भरा थाल लेकर उसके सामने रख दिया। उसके झोटे से पात्र में इतनी जगह कहाँ है ! उसकी समझ में नहीं आता कि इस विभूति को कैसे समेटे। चंचल और दामन सब कुछ भर जाने पर भी तो वह उसे समेट न सकेगी।’ (कर्मभूम)

यह भाषा तेज़ी, पैनी तथा मर्मलुपल पर आघात करनेवाली है। चुस्त, मुहाबरेदार और अलंकारमयी भी है। उपमा इसकी विशेषता

है। जन-साधारण के जीवन से यह अपने शुद्ध-चित्र बनती है। मुंशी वज्रवर उन रेल के मुमाक़िरी में थे, जो पहले तो गाड़ी में कड़े होने की जगह मोंगते थे, फिर बैठने की फिक्र करने लगते हैं और अंत में सोने की तयारी कर देते हैं। (कायाकल्प)

बिनोद इस भाषा से छलका पड़ता है; संसार में कपड़े से ज्यादा वेवफा और कोई वस्तु नहीं होती। हमारा घर बचान से बुद पे तक हरएक अवस्था में हमारा है। वस्त्र हमारा होते हुए भी हमारा नहीं होता ! आज जो वस्त्र हमारा है - वह बल हमारा न रहेगा। उसे हमारे मुख-बुद की जरा भी बिता नहीं हों, फौरन वेवफाई कर जाता है। हम अंग बमार हो जायें, बिसा स्थान का जलवायु जरा हमारे अनुकूल हो जय, बस हमारे प्यारे वस्त्र जि के लिए हमने दूँ की दूकान को खाक छन डाली थी, हमारा साथ छोड़ देते हैं।

(कायाकल्प)

यह भाषा 'गोदान' में परम रसवंती, अलंकार-युग्म, कवितामयी हो गई है। इसके सजल प्रवाह में कथानक और कथोपकथन सजल गति से बहे हैं। पत्रों का सजल वार्तालाप प्रेमचंद कलाकार का निजी गुण है ! यह एजिवता कुदृता भाषा के कारण है, कुदृता उनके गहरे अनुभव पर अवलम्बित। जो बात-चीत हम प्रेमचंद के उपन्यासों में सुनते हैं, वह जीवन में आने चारा और सुन सकते हैं।

इसी कारण हम उनके उपन्यास संसार को भारतीय-जीवन का एक अंग कह सकते हैं।

प्रेमचंद का टेकनीक कितनी सकल और पश्चिम है, इसका प्रमाण 'कायाकल्प' है। टेकनीक-कुशलता उपन्यास का आकर्षण बनाये रखती है। कथाविस्तार की एक भारी भूल ने 'कायाकल्प' को एक सामाजिक उपन्यास की श्रेणी से निहाल कर आध्यात्म के क्षेत्र में पहुँचा दिया। प्रेमचंद की विचारधारा में सदैव से अभ्रत, अदृश्य जग के प्रति ऐसी भावना की एक तरंग थी।

‘रंगभूमि’ में एक भीलनी ने विनय को एक बूटी दी, जिसके बज्र से सोफी के मन में वासना जग उठी; ऐसी ही कुछ विविध कहानी ‘गूँठ’ है। ‘अभाभ्रम’ में एक बिलासी रईस योगबल से अपने शरीर पर विष बाहर निकाल देना है।

प्रेमचंद भबुक थे। कोई ठोस बुद्धिवाद उनकी कला के पीछे नहीं। इस कारण नवीन समाज का व्यवधान उनकी दृष्टि में धुँधला-सा रहा। क्रांति के बाद गाँव में स्वर्ण-युग की सरलता और निष्कपटता का फिर राज्य होगा; ऐसा शायद कुछ उनका स्वप्न था। यह कहिये कि गाँधीजी का राम-राज निरलौटेगा यह वैश्व निक मनुवृत्ति नहीं। सतिता-जज्ञ के समन मनुष्य का सामाजिक जीवन भी आगे ही बढ़ता है, पीछे नहीं लौटता। हम मनुष्य का भविष्य सुविशाल निस्पृह नगरों में देखते हैं, जिनकी जीवन-प्रेरणा लाभ नहीं, सामाजिक उपयोग होगा।

प्रेमचंद का कथानक घटना-वाङ्मय से दबा रहता है। उपन्यास की नवीन टेकनीक के अनुसार छोटी-छोटी घटनाएँ कथानक को आगे बढ़ाती हैं। गबन, एड-त्याग, मृत्यु, लम्बी-लम्बी यात्राएँ—इनकी प्रेमचंद के बस्तु भाग में भरमार रहता है। ‘निर्मला’ में लगभग सभी पात्र मृत्यु के घाट उतार दिये गये हैं। ‘रंगभूमि’ का कथानक विशेष चंचल है। इसका कारण हम यह कह सकते हैं कि आज भारतीय जन-समाज का जीवन भी बहुत चुन्च; आतुर और गतिशील है।

एक आलोच हमारा यह है कि कहीं-कहीं प्रेमचंद अस्वाभाविक हो जाते हैं। किसी घटना को तून से देते-देते वह अचित-अनुचित भूल जाते हैं। अंबा सुदास गाड़ियों के पीछे मील-मील भर कैसे दोड़ सकता है? सोफिया मि० क्लार्क के साथ कौनसे राजपरिवार में कैसे घूमि, यहाँ तक कि महाराज और रीबान जी उसे मिलेन क्लार्क समझते रहे ! वह किस समाज की प्रथा में सम्मिलित है ? ‘कावावला’

में मरणासन्न मनोरमा चक्रधर के आते ही बच्चे को लेकर चारों ओर दौड़ने लगी ! क्या यह कथाकार के अधिकार का दुरुपयोग नहीं ? 'कर्मभूमि' में भद्र महिला सकीना अमर-कान्त से दूसरी ही भेंट में घुल-मिलकर प्रेम की बात करने लगी ।

प्रेमचंद के कुछ पात्र भी व्यक्ति की अपेक्षा 'टाइप' बन जाते हैं ; धूर्त, मक्कार अथवा संत । ऐसा कभी-कभी ही हुआ है । रंग-भूमि में कर्मभोर ताहिरअली गवन कर बैठते कर बैठते हैं, किंतु माहिरअली अथवा उनकी माताएँ बिल्कुल नहीं झुकतीं । मिसेज जॉन सेवक के हृदय से मातृ-भाव विलीन हो गया है । उनका चरित्र जड़ है, विकासमान नहीं ! इसके विपरीत हम उनके अनेक पात्रों को डॉबाडोल चलायमान देखते हैं । यह मनुष्य का स्वभाव ही है, वह एक जगह स्थिर नहीं रहता ।

एक पल प्रेमचंद की तुलना साहित्य के अन्य उपन्यास-कारों से करें ।

प्रेमचंद हमें सहज ही 'डिकेंस' का स्मरण दिलाते हैं ; वही घटना-प्राबल्य, पात्रों की भीड़भाड़ और सामाजिक परिवर्तन की लगन । डिकेंस भी नीचे वर्गों का चित्रण करता है । किंतु वह नगर-जीवन का चित्रकार है और बहुधा उसके चरित्र विकृत और अस्वाभाविक हो गये हैं । जैसे उसने दुर्बिन के गजत सिरे से जीवन देखा हो । डिकेंस को लंदन का चित्रकार कहा गया है । प्रेमचंद शहर से तने रहते थे !

गोर्की से भी प्रेमचंद की तुलना एक हद तक उपयुक्त है । दोनों ही क्रांति के समर्थक और दलित-वर्गों के अगुआ थे । गोर्की के जगत में पात्रों की यह भीड़-भाड़ नहीं । यदि प्रेमचंद किसान-जीवन के कलाकार हैं तो गोर्की मजदूरों का है । फैक्टरी, बाजार, हाटों की हलचल और क्रांति की अवाप्त गति ये गोर्की की कथा 'माँ' के अपने गुण हैं । 'कर्मभूमि' में कथानक का विकास 'मा' के हो सहश हुआ है ।

गैज़टर्दी ने भी अपने समाज का विस्तृत इतिहास लिखा है, किंतु वह उच्च मध्य वर्ग के प्राणो थे। इनो समाज में उनका जीवन केन्द्रित था। निम्न वर्गों को और भी वे झुके हैं, लेकिन बहुत कम। पशुओं की मनोवृत्ति वे भी प्रेमचंद के समान समझते हैं, किंतु उनका स्नेहो पशु घोड़ा या कुत्ता है, प्रेमचंद का बेल। यह मेद उनकी कला को नीब तक हमें पहुँचाता है। घोड़ा और कुत्ता विलास और मनोरंजन का साधन हैं, बेल रोजी का।

अपने देश में रवि बाबू और शरद बाबू से उनको तुलना हम कर सकते हैं।

रवि बाबू के कथा-भाग में रेशम के तारों-सा कामल रईसी जीवन है। उनकी भाषा-माधुरी चतुर शब्द-विन्यास, काव्यमय जीवन-भोंको हमें एक शांत स्निग्ध वातावरण में पहुँचा देती है, जहाँ जीवन की विषमता और कठोरता विकराल रूप से हमारे सामने नहीं आती। भावनाओं के जग में ही कवि की प्रेरणा विचरती है।

शरद बाबू हिंदू भद्र समाज के कठोर आलोचक हैं - उसका दहेज-प्रथा के ढकोसलों और दलबंदियों के।

पक्ष समाज, अरक्षणीया आदि हमारे समाज के बीभत्स चित्र हैं। शरद बाबू के पात्र बहुत मर्मस्पर्शी होते हैं। वे हमारे हृदय में वेद उथल-पुथल मचा देते हैं।

प्रेमचंद की कला में न तो रवि बाबू का काव्य-रस है, न शरद बाबू का मर्मस्पर्शी चरित्र-चित्रण - किंतु आपने अपनी कला में भारतीय-जीवन के उस विशाल, विस्तृत स्तर को लुप्रा है जो अब तक अदृश्य और अछूता था। आपने भारत के मूक जन-समाज को वाणी दी है और अभूतपूर्व साहित्यिक जीवन ! यही आपकी बड़ी विभूति है। इस दृष्टिकोण से कलाकार प्रेमचंद रवि बाबू और शरद बाबू से भी एक पग आगे हैं।

प्रेमचंद की भाषा और शैली

प्रेमचंदजी की आरंभिक रचनाओं में प्रौढ़ता न थी। उन कृतियों में देखकर यह आशा नहीं की जा सकती थी कि कुछ ही दिनों में उनमें आकाश-पाताल का अंतर हो जायगा। उस समय न तो उनकी भाषा ही संयत होती थी और न भाव-व्यंजना ही। वाक्यों की छाटाई पर ध्यान देन से यह स्पष्ट शत होगा कि वे इसलिये छोटे नहीं होते कि भाव अधिक सघु हों; बरन् वे लेखक की भीरुता के कारण लिखे जाते थे। उस समय ये बड़े-बड़े वाक्यों के संबंध का अर्थ ही नहीं कर सकते थे। यही कारण है कि भाषा में शिथिलता राज हो गयी है। एक-एक वाक्य में भाव टुकड़े टुकड़े होकर रखे भेजते हैं। वाक्यसमूह असंबद्ध और धारा-प्रवाह भिन्न-भिन्न होता था। न के मुहावरों के सुंदर प्रयोग से भले ही सजीवता उत्पन्न होती जा हो; परंतु इनका लेख-चतुरी का सराहना कदापि नहीं की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त उस समय की लिखी कहानियों में भावना का प्रौढ़ प्रसार भी नहीं मिलता। भाव-व्यंजना में अपरिपक्वता स्पष्ट रहती है। चरित्र-चित्रण में भी वह मनो वैज्ञानिक विवेचन और स्थान-रतन न मिलेगा; जो आज स्वामाविष्कार दिख ई पड़ता है। स्फुट तत्समता का बनावटी प्रयोग यह दिखाता था कि एक मौलवा उठत बनना चाहता है। इसका तात्पर्य केवल यह है कि उनके संस्कृत शब्दों के प्रयोग में अनानुगत न था। भाषा साधारणतः उबकी मलूम पड़ती थी। उस समय की एक कहानी का छोटा-सा अवतरण देखिये—

“हमारे पहलवानों में वेसा कोई नहीं है, जो उससे बाजी ले जाय। मालदेव को हार ने बुंदेलों की हिम्मत तोड़ दो है। अब सारे शहर में छोक छाया हुआ है। सैकड़ों घरों में आग नहीं जली, चिराग रोशन नहीं हुआ। हमारे देश और जाति की यह चीज अब अंतिम स्वास ले

रही है, जिससे हमारा मान था। मालदेव हमारा उस्ताद था। उसके हार चुकने के बाद मेरा मैदान में आना धृष्टता है। पर बुंदेलों की साख जाती है तो मेरा सिर भी उसके साथ जायेगा। कादिर खॉ बेशक अपने हार में एक ही है; पर मेरा मालदेव कभी उससे कम नहीं। उसकी तलवार यदि उसके हाथ में होती तो मैदान जरूर उसके हाथ रहता। ओरछे में केवल तलवार है जो कादिर खॉ की तलवार का मुँह मोड़ सकती है। वह भैया की तलवार है। अगर तुम ओरछे की नाक रखना चाहती हो तो उसे मुझे दे दो। यह हमारी अंतिम चेष्टा होगी। यदि अबकी हार हुई तो ओरछे का नाम सदैव के लिये डूब जायगा।”

इन त्रुटियों का क्रमशः परिमार्जन होता गया। भाव-व्यंजना का जो प्रौढ़ रूप इनकी रचना में आज दिखाई देता है वह कुछ ही काल पूर्व इस प्रकार का था, यह आश्चर्यजनक है। इस प्रकार की आध्यत्मिक उन्नति कम देखने में आती है। उनकी उस समय की त्रुटियाँ संस्कारजन्य थीं। अतएव आज भी उनका कुछ न कुछ आभास मिलता ही है, पर वे विशेष खटकती नहीं। उन्होंने अपनी कहानियों और उग्यासों में चमत्कार का विशेष उपयोग नहीं किया। इसका आरंभ सदैव इतिवृत्तात्मक कथानक से होता है। जिस नवीनता एवं चमत्कार का दर्शन हमें “प्रसाद” जी की रचनाओं में हो चुका है, ठीक उसके विपरीत इनकी रचना में मिलता है। उनकी भाव-व्यंजना में काव्य-कल्पना का उल्लास दिखाई पड़ता है; पर इनकी रचना मृत्यु-लोक की व्यावहारिक सत्ता का चित्र है। उनकी भाषा में उन्मुक्त उन्माद एवं विशुद्धता दिखाई पड़ती है; परंतु इनकी शैली में भाषा का व्यावहारिक चलतापन विशेष उल्लेखनीय है। उनके कथानक का समारंभ कुतूहल और चमत्कार के साथ स्वाभाविकता का आधार लेकर उत्पन्न होता है और इनका जगत् की स्थूल विवेचना एवं नित्य की अनुभूतियों के आश्रय पर खड़ा होता है। एक स्वर्ग आह्लादपूर्ण यौवन है और दूसरा हमारे साथ दिन-रात रहनेवाला मृत्यु-लोक का

सहचर। एक में हम प्रकृति का मनोरम शृंगार पाते हैं, दूसरे में मानव-जीवन की सहचरी समीक्षा। एक हमें स्वर्गीय मधुरता का प्रतिबिम्ब दिखाता है और दूसरा वास्तविक संसार का चित्र।

इनकी शैली का विवेचन करते समय एक बात स्पष्ट सामने आती है। वह यह कि अग्ने विचारों को स्थूल बनाने के लिये उन्होंने सदैव जैसे, 'तैसे', 'मानों' का प्रयोग किया है। इससे उनका तात्पर्य केवल कथित विषय को अधिक बोधगम्य बनाने की चेष्टा ही ज्ञात होता है। कहीं-कहीं तो यह अत्यंत स्वाभाविक और उपयुक्त प्रतीत होता है। इससे भाव-व्यंजना अधिक सुंदर हो गयी है। परंतु अनेक स्थानों पर अस्वाभ विरु एवं अप्रयोजनीय भी ज्ञात होता है। इस आलंकारिक पद्धति का अनुसरण करने में यही तो अड़चन उत्पन्न होती है कि यदि वह वास्तविकता का सीमोलंघन कर गयी तो सुंदर के स्थान पर भयंकर ही नहीं बल्कि अरुचिकर भी हो जाती है। जैसे—“व्याकुल हा गयी—जैसे दीपक को देखकर पतंग, वह अधीर हो उठी जैसे खांड को गंध पाकर चींटी। वह उठी और द्वारपालों, चौकीदारों की दृष्टियों बनाती हुई राजमहल के बाहर निकल, आधी—जैसे वेदनापूर्ण कदन सुनकर आँसू निकल आते हैं।” जैसे चाँदनी के प्रकाश में तरागण की ज्योत मनोमल पड़ गयी थी, उसी प्रकार उसके हृदय में चंद्ररूपी सुविचारों ने विकार-रूपी तारागण को ज्योतिर्हीन कर दिया था।” जिस प्रकार अरुण का उदय होते ही पक्षी कल-रव करने लगते हैं और बछड़े किलोलों में मग्न हो जाते हैं, उसी प्रकार सुमन के मन में भी कलक करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई।” “जब युवती चली गयी तो सुभद्रा फूट-फूटकर रोने लगी। ऐसा जान-बूझता था मानो देह में रक्त ही नहीं, मानों प्राण निकल गये हैं। वह कितनी निःसहाय, कितनी दुर्बल है इसका आज अनुभव हुआ। ऐसा मालूम हुआ मानों संसार में उसका कोई नहीं है। अब उसका जीवन व्यर्थ है। उसके

लिये अब जीवन रने के निवा और क्या है ! उसकी सारी जर्नेयों शिथिल-सी हो गयी थीं, मानो वह किसी ऊँचे वृत्त से गिर पड़ी हो ।” “जैसे सुंदर भाव के समावेश से कविता में जान पड़ जाती है और सुंदर रंगों से चित्र में, उसी प्रकार दोनों बहनों के आ जाने से भोपड़े में जान आ गयी । अंधी आँखों में पुतलियाँ पड़ गयी हैं । मुग्ध-है हुई कली शांता अब खिलकर अनुपम शोभा दिखा रही है । सूखी हुई नदी उमड़ पड़ी है—जैसे जेठ-बैसाख की तपन की मारी हुई गाय सावन में निखर जाती है और खेतों में किलोलें करने लगती है, उसी प्रकार विवाह को सताई हुई रमणी अब निखर गयी है ।”

कथोपकथन के क्रमिक विकास में इस बात की बड़ी आवश्यकता होती है कि उस मनुष्य की वाक्य-योजना में वह स्वाभाविक भावभंगी हो, जो वस्तुतः नित्य के व्यवहार में प्राप्त होती है । बातचत में प्रायः वाक्य का शुद्ध क्रम नहीं जाता । जैसे ‘आग जाइए । आपको क्या पड़ी है ?’ को साधारण कथोपकथन में कहा जायगा—“जाइए आप । क्या पड़ी है आपको ?” इसी कारण वास्तविकतावादो अधिकतर नाट्य प्रणाली का अनुसरण करते हैं । इस नाट्य-प्रणाली का अनुसरण प्रेमचंद में नहीं प्राप्त होता । वे सीधे-सादे व्याकरण के निश्चित मार्ग का अवलंबन समीचीन समझते हैं । इससे कथोपकथन की भाषा शिथिल-सी हो गई है । गिन स्थानों पर इन्होंने इस नाट्य-प्रणाली का अनुसरण किया है, वहाँ पर जीवन आ गया है परन्तु ऐसे स्थल न्यूनातिन्यून हैं ‘मानो उसका कोई है ही नहीं संसार में’ न लिख वे सदैव सीधा-सादा रूप ‘मानो संसार में उसका कोई नहीं है’ लिखते हैं । “युक्ति कोई ऐसी बताइए कि कोई अवसर पड़े तो मैं साफ निकल जाऊँ” ही लिखेंगे । इस प्रकार नाट्योपयोगी कथोपकथन प्रेमचंद की रचना में अधिक न मिलेगा । कभी-कभी जहाँ हृदय की धक्कती अग्नि बाहर निकलने की चेष्टा करती है ; अथवा जहाँ हृदय से, अधिक दिनों के संचित हृद्गार, वायु के प्रबल

वेग की भौति निकलना चाहते हैं वहाँ भाषा भी स्वभावतः संयत और भव्य हो गई है ; पर ऐसे स्थान हैं बहुत थोड़े । जैसे—
 “सुमन ने आँखें खोलीं और उनमत्ता की भौति विस्मित नेत्रों से शांति की ओर देबकर बोला— “कोन शांति ! तू हट जा, मुझे मत छू मैं पागिनी हूँ, अमागिनी हूँ मैं भ्रष्टा हूँ, तू देवा है, तू साध्वी है, मुझसे अरने का स्पर्श न हाने दे । इस हृदय को वासनाओं ने, लालसाओं ने, दुष्कामनाओं ने मलिन कर दिया है, तू अरने उज्ज्वल स्वच्छ हृदय को पस मत ला, यँ से भाग जा । वह मेरे सामने नाक का अग्नि-कुण्ड दहक रहा है, यम के दून मुझे उस कुण्ड में झुंझने के लिए घमाटे लिए जाते हैं, तू यहाँ से भाग जा । यह कहते-कहते सुमन फिर मूर्छित हो गई ।”

यों तो इनकी सभी रचनाएँ खिचड़ी भाषा में हुई हैं—उनमें हिंदी-उर्दू का परिमिश्रित सम्मिश्रण हुआ है ; परन्तु कथोकथन में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है । उसमें यदि बोलनेवाला मुमलमान है तो उर्दू की तत्समता और यदि हिंदू है तो संस्कृत की तत्समता अधिक प्रयुक्त हुई है । इनका यह विचार उचित है अथवा अनुचित, स्वाभाविक है या अस्वाभाविक इसका विवेचन यहाँ समीचीन न होगा ; अतएव केवल इतिवृत्त का ही प्रदर्शन कराया जाता है । प्रेमचंदजी को जहाँ कदाचित् अवसर प्राप्त हुआ है, वहाँ उन्होंने देशी अथवा प्रांतीय भाषा का भी प्रयोग किया है । इसके अनिश्चित संचरणतः उनके वाक्य छूटे-झूटे होते हैं । इनसे भाव प्रकाशन में सुगमता अवश्य हुई है ; परन्तु धरा प्रवाह में बड़ा बिध्न उपस्थित हुआ है । उनकी रचनाओं में—क्या उपन्यास, क्या छोटी-छोटी कहानियाँ, सबमें धारा-प्रभाव का बड़ा व्यतिक्रम पाया जाता है । भाव-व्यंजना बड़ी उबड़ी-पुबड़ी शात होती है । एक-एक वाक्य एक-एक बात लेकर अनग-बिलग खड़े सामने आते हैं ; एक के सार दूसरे का कोई सामंजस नहीं । यह बात विशेषतः उन स्थानों में प्र

होती है जहाँ इतिवृत्तात्मक विवरण देना पड़ा है अथवा विषयोद्घाटन करना पड़ा है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्हें विषयारम्भ में बड़ी दुरुद्धता का सामना करना पड़ा है। इसके अतिरिक्त इसका एक और कारण ज्ञात होता है। वह विषय का आकस्मिक आरम्भ न होना है। प्रत्येक विषय के आरम्भ में कुछ न कुछ भूमिका बाँधना प्राचीन परिपाटी का उद्बोधन करना है। यह विचार केवल प्राचीन कहकर ही नहीं टोला जा सकता। इसको दूसरी दुर्बलता यह है कि इसमें वैसा आकर्षण भी नहीं रहने पाता। अंग्रेजी साहित्य में स्काट के चान्यासों में भी यह बात विशेष रूप से पाई जाती है। इससे पाठक का मन सहज पठ्य विषय में अनुरक्त नहीं होने पाता; वान् भूमिका की भाँड़ी में ही उलझकर रह जाता है। इसी भूमिका-भाग में प्रेमचंद की शैली विशेष उलझी जान पड़ती है। इन इतिवृत्तात्मक स्थलों में यदि गीत और चमत्कारपूर्ण शैली को ग्रहण किया गया होता, तो इतना रूपायन न आने पाता। साथ ही पाठकों का चंचल चित्त भी विषय की ओर अविलम्ब आकृष्ट हो जाता।

यह शिथिलता सर्वत्र हो, यह बात नहीं है। भाषणों में स्थान-स्थान पर, जहाँ हृदय की उथल-पुथल का मार्मिक चित्र अंकित किया गया है, वहाँ स्वभावतः भाव शैली के साथ-साथ भाष शैली भी संयत एवं रोचक हो गई है। वहाँ उनके छोटे-छोटे वाक्य बड़े प्रभावशाली तथा आकर्षक हो गए हैं। इसके अतिरिक्त उन स्थानों पर धारा-प्रवाह का भी सुन्दर निबहान पाया जा सकता है। यों तो ऐसे स्थान अधिक नहीं हैं; पर जो हैं, वे बड़े ही मनोहर हैं। एक-एक वाक्य दूसरे से भिड़े हुए हैं। इसी प्रकार भाव भी एक लड़ी में गुम्फित दिखाई पड़ते हैं। भावों के परिष्कार के साथ-साथ आकर्षण भी बढ़ जाता है। ऐसे स्थानों पर वाक्य-समूह समाप्त किए गए वाचक रुक ही नहीं सकता। जैसे—

‘मनोरमा अचानक तन्मय-अवस्था में डूबल पड़ी। उसे प्रतीत

हुआ कि संगीत निकटतर आ गया है। उसकी सुन्दरता और आनन्द अधिक प्रखर हो गया था—जैसे बची उकसा देने से दीपक अधिक प्रकाशमान हो जाता है। पहले चित्ताकर्षक था, तो अब आवेशजनक हो गया था। मनोरमा ने व्याकुल होकर कहा—आह ! तू फिर अपने मुँह से क्यों कुछ नहीं मोंगता ? आह ! कितना विरागजनक राग है, कितना विह्वल करनेवाला। मैं अब तनिक भी धीरज नहीं धर सकती। पानो चतार में आने के लिए जितना व्याकुल होता है, श्वास हवा के लिए जितनी विकल होती है, गंध छड़ जाने के लिए जितनी उतावली होती है, मैं उनी तरह उस स्वर्गीय संगीत के लिए व्याकुल हूँ। उस संगीत में कोयल की-सी मस्ती है ; पयोहे की-सी वेदना है ; श्यामा की-सी विह्वलता है—इसमें भरनों का-सा जोर है, ओंछी का-सा वेग। इसमें सब कुछ है, जिसमें विवेश्मि प्रज्वलित, जिससे आत्मा समाहित होता है, और अंतःकरण पवित्र होता है। मैं का अब एक क्षण का विलंब मेरे लिये मृत्यु की यंत्रणा है। शीघ्र नोका खोल। जिस सुमन को यह सुगंध है, जिस दीपक की यह दीप्ति है, उस तक मुझे पहुँचा दे। मैं देख नहीं सकती, इस संगीत का रचयिता कहीं निकट ही बैठा हुआ है, बहुत ही निकट।” —

(‘आत्म-संगीत’ शीर्षक कहानी से)

श्री प्रेमचंदजी ने जिस समाज का चित्र अंकित करने का बीड़ा उठाया, वह दीन है। उसमें स्वर्गीय सुल्लास नहीं है, उसमें उच्च भावनाओं का उन्माद नहीं है ; यही कारण है कि विशेषतः उन स्थानों पर, जहाँ उन्हें कारुणिक अवस्था का वर्णन करना पड़ा है, वहाँ एक दीप्ति उत्पन्न हो गयी है। हमारे व्यावहारिक संसार में हीनता का स म्राज्य है। उसमें नित्यप्रति अधिकांश ऐसे उदाहरण प्राप्त होते रहते हैं, जिन्हें देखकर करुणा का उद्रेक हुएबिना नहीं रह सकता। दीन मनुष्यों का विवरण देते समय उनकी भाषा बड़ी मार्मिक और भाव व्यंजना बड़ी ही द्रावक हुई है। भाषा का आश्रम।

चलता रूप ही उन्होंने अपनी रचनाओं में रखा है। बाबू देवकीनन्दन खत्री की भाषा का यह संस्कृत और परिमाणित रूप है। प्रेमचंदजी की प्रतिनिधिस्वरूप यही भाषा है। उसी का प्रयोग उन्होंने अधिकतर किया है।

प्रो० जगन्नाथ शर्मा

प्रेमचंदजी के उपन्यासों को सामयिक समस्यायें

सामयिक विषयों को लेकर उपन्यास लिखने से साहित्य-रचना के साथ-साथ उन समस्याओं के विषय में लेखक को अपने विचार प्रकट करने का भी अवसर मिल जाता है। जनता में इनका जो सम्मान होता है, उसके भी दो कारण हैं। एक तो उनके पढ़ने से उसका मनोरंजन होता है और दूसरे, प्रचलित विषयों के सम्बन्ध में एक योग्य लेखक के विचार मालूम होते हैं। इससे उनके विषय में अपना मत निर्धारित करने में सहायता मिलती है। इन उद्देश्यों का पूर्ति तभी होती है जब सामयिक विषयों को इस प्रासंगिक रूप से अपनाया जाय कि पाठकों का ध्यान मूल कथानक की ओर से विचलित न हो। यह कार्य सरल नहीं है, और लेखक के जरा-सा चुकने पर ही अर्थ का अर्थ होने की सम्भावना रहती है। इस की बात है कि हमारे प्रेमचंदजी ने अपने उपन्यासों में इस बात का उचित ध्यान रखा है। सामयिक समस्याओं पर उन्होंने कभी कथोपकथन द्वारा और कभी सीधी-सादी या हास्य और व्यंग्यपूर्ण शैली में इस ढंग से विचार किया है कि पाठकों का जी नहीं जाता।

क्या है कि दो-एक स्थल, अत्रिवाद-स्वरूप भी हों, पर उनका

एक विशेष कारण—विवशता—है जिसकी विवेचना फिर कभी की जायगी ।

प्रेमचंदजी का सबसे पहला उपन्यास 'सेवासदन' है । इसकी समस्या मुख्यतः सामाजिक है । स्थान-स्थान पर कुछ तो विषय की संबद्धता और कुछ उद्देश्य की असंगतता के कारण धम की विवाद-ग्रस्त बातों—धर्म के ठेकेदारों के पाखंड, धर्म में फँलो हुई कुरीतियाँ, धर्म के नाम पर किया जानेवाला अत्याचार आदि—पर भी विचारात्मक प्रकाश डाला गया है । बस, 'सेवासदन' में तत्कालीन सामयिक समस्याओं में सामाजिक और धार्मिक, इन्हीं दो को मुख्यतः अपनाया गया है । एक-दो स्थान पर भाषा, साहित्य, शिक्षा आदि की तत्कालीन दशा के विषय में भी संकेत किया गया है ; पर वह बहुत कुछ प्रासंगिक ही है । उसे हम मुख्य विषय से संबद्ध या उसके अन्तर्गत नहीं मान सकते ।

सन् १९१४ के यूरोपीय महासमर के साथ भारत में भी स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए जोर-शोर से प्रयत्न किया जाने लगा । साधारण जनता ने इस राजनीतिक आंदोलन को महत्त्व की दृष्टि से नहीं देखा जितना इससे सम्बन्ध रखनेवाली कृषक और ग्राम-समस्या के आंदोलन को । मूलतः दोनों आंदोलनों का लक्ष्य एक ही उद्देश्य का पूर्ति मानी जा सकती है । किसानों की दशा सुधारने पर ही वे हमारे साथ रह सकते हैं और तभी स्वतंत्रता-प्राप्ति-सम्बन्धी उद्योग में उनकी सम्मिलित शक्ति से—यह बात मैं अत्यंत सच्चे में, बिना किसी प्रकार की व्यख्या किए ही कह रहा हूँ—हमें अपने प्रयत्न में सफलता मिल सकती है । प्रथम राजनीतिक आंदोलन के लिए देश को विशेष रूप से तैयार होने की आवश्यकता थी और दूसरी ओर जनता से पूर्ण सहयोग की पूरी आशा । महात्मा गाँधी ने आरम्भ में किसानों की दशा सुधारने की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया, उसका मुख्य कारण यही जान पड़ता है । 'प्रेमाभ्रम' को

रचना के समय तक महात्मा गाँधी का यह आंदोलन आरम्भ हो चुका था, उसकी ख्याति हो चुकी थी और लोग उसका सम्मान भी करने लगे थे। अतः जब प्रेमचंदजी को अपने पाठकों के सामने—उन्हीं पाठकों के सामने जो अंग्रेजी और बँगला के उपन्यासों की प्रशंसा करते न थकते थे; परंतु अपनी संकुचित दृष्टि और ईर्ष्यालु प्रकृति के कारण 'सेवासदन' को भेष्ट स्वीकार करते हुए भी उसकी भेष्टता स्वीकार करने में हिचकते थे—किसी ऐसी चीज के रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई जो उनका ध्यान आकृष्ट कर सके, जिसका वे सम्मान कर सकें और जिसे खरीदने के लिए वे सहर्ष पैसा खर्च करने को भी तैयार हो जायँ, तब उन्होंने उस 'प्रेमाश्रम' की रचना की जिसका मुख्य विषय तत्कालीन राजनीतिक समस्या से सम्बद्ध होता हुआ भी सर्वथा स्वतंत्र है; सामयिक होते हुए भी भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए सर्वकालीन है। उपन्यास-कला की दृष्टि से यदि हम 'प्रेमाश्रम' की आलोचना करके उसका यथार्थ महत्त्व और उचित मूल्य निर्धारित करने का प्रयत्न न भी करें अथवा इस दृष्टिकोण से हिंदी के उपन्यासों में उसका निर्दिष्ट स्थान हम स्वीकार ही न करें, तब भी उसका पढ़न-पाठन कम नहीं हो सकता। इसका एकमात्र कारण है उपन्यास का मुख्य विषय, उसमें वर्णित ग्राम-समस्या, जिसके वर्तमान प्रवर्तक थे महात्मा गाँधी। 'प्रेमाश्रम' जिस समय प्रकाशित हुआ था, उस समय कुछ आलोचकों ने दबी जवान से यह कहने का साहस किया था कि उसके मुख्य पात्र प्रेमशंकर के, इस समस्या से सम्बन्ध रखनेवाले विचारों पर महात्मा गाँधी के विचारों और नवीन आदर्शों की स्पष्ट छाप है। हम भी इससे सहमत हैं। बीच-बीच में, प्रसंगानुसार, शासन-प्रबंध और डाकटरी, बकालत आदि व्यवसायों तथा युद्धमयानों की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में जो सुधारात्मक विचार प्रेमशंकर अथवा उनके मित्रों के मुँह से कहलाए गए हैं, उन्हें हम प्रेमचंदजी के निजी विचारों का

विवेचनात्मक प्रकटीकरण कह सकते हैं। कुछ सामाजिक और धार्मिक प्रसंगों का भी 'प्रेमश्रम' के मूल और प्रधान विषय से सम्बन्ध था। 'सेवासदन' की इन समस्याओं को भी परिशिष्ट के रूप में 'प्रेमश्रम' में गौण स्थान मिला है।

अब 'रंगभूमि' को लीजिए। 'प्रेमश्रम' में ग्राम-समस्या के जिस पहलू का आकर्षक चित्र खींचा गया है, वह प्रारंभिक ही है। किसानों की वर्तमान दीन दशा, उन पर होनेवाले अत्याचार और उसके कारण, अत्यंत संक्षेप में, केवल इन्हीं के विषय में प्रेमचंदजी ने अपने विचार रोचक ढंग से व्यक्त किए हैं। यह विषय नया नहीं था; कई सौ वर्षों से भारतीय किसानों की ऐसी ही दशा रही थी। उपन्यास का महत्त्व इस बात में है कि उसमें सभी आवश्यक बातों को एकत्र करके, सुधार-सम्बन्धी उपायों की ओर कलात्मक ढंग से संकेत किया गया है। ये उपाय विशेषतः पुराने ढंग के हैं और इनमें मुख्यतः जमींदारों को अपना नैतिक जीवन और आचरण सुधारने की आवश्यकता बताई गई है। वैज्ञानिक उन्नति के वर्तमान युग में ये सुधार-प्रस्ताव आवश्यक होते हुए भी अपूर्य हैं। अतः 'रंगभूमि' में प्रेमचंदजी ने ग्राम-समस्या के उस पहलू की रोचक व्याख्या की, जिसमें कृषि-सम्बन्धी सुधार की ओर विशेष ध्यान न देकर औद्योगिक धर्मों की उन्नति करने के लिए देश में कल-कारखानों की आवश्यकता बताई गई है। हो सकता है कि उन पाश्चात्य शीत-प्रधान देशों अथवा पहाड़ी स्थानों में इनसे लाभ हुआ हो, जहाँ अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हो चुके हैं, जहाँ खाद्य पदार्थों की सपल संतोषजनक नहीं होती; परन्तु भारत के लिए यह बात ठीक नहीं। यहाँ के तो अधिकांश निवासियों का मुख्य उद्यम खेती करना ही है। यही कारण है कि 'रंगभूमि' में प्रेमचंदजी ने भारत के लिए कल-कारखानों की अनुपयुक्तता पर ही जोर दिया है।

'प्रेमश्रम' में शहरों के शासन के सम्बन्ध में संकेतमात्र किया

गया है ; 'रंगभूमि' में इस विषय की अपेक्षाकृत विस्तृत विवेचना है । 'गबन' के अंतिम पृष्ठों में 'प्रेमाश्रम' के ढंग पर ही अदालतों की वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत लिखा गया है, जिसे आलोचकों ने अनुपयुक्त बताते हुए अयथार्थ कहा है । हमें भी इस वर्णन से सन्तोष नहीं । हाँ, 'कर्मभूमि' में उपन्यासकार ने 'रंगभूमि' के नागरिक शासन-सम्बन्धी वर्णनों का जो विस्तार दिया है, वह पूर्ण है, और पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने में समर्थ भी । इन उपन्यासों में अन्य सामयिक समस्याओं का जो वर्णन मिलता है, वह बहुत साधारण है । कहा जा सकता है कि 'रंगभूमि' में देशी रियासतों, 'गबन' में पुलिस के हफ्कंडों और 'कर्मभूमि' में स्वतंत्रता-सम्बन्धी-आंदोलन के विषय में जो कुछ कहा गया है, वह विशेष महत्त्व का है । हमारी सम्मति में प्रेमचंदजी ने इनमें से केवल अंतिम की ओर अधिक ध्यान दिया है । 'रंगभूमि', 'गबन' और 'कर्मभूमि' तीनों उपन्यासों में इस आंदोलन के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किए गए हैं उनका यदि संकलन किया जाय तो हमें इसका सच्चा इतिहास प्राप्त हो सकता है ।

'क'याक'ल' का विषय इन सब उपन्यासों से भिन्न है । उसका मूल विषय, एक तरह से एक है ही नहीं ; प्रसंगानुसार उसमें समाज, धर्म, राजनीति, राजमद, गार्हस्थ्य जीवन, सभी के विषय में कुछ न कुछ कहा गया है । हाँ, इसका एक समस्या सामयिक और महत्त्वपूर्ण है । हिंदुओं और मुसलमानों में भिन्न धार्मिक आदर्शों के कारण जो पारस्परिक विरोध बढ़ता जा रहा है, उसी का ओर इसमें एक स्थल पर संकेत किया गया है । इस विरोध का केवल एक ही दृश्य प्रेमचंद जी ने दिखाया है ; परंतु है वह बड़ा चमत्कारपूर्ण और शिद्दाप्रद, इसमें सदेह नहीं ।

सबसे अंतिम उपन्यास 'गोदान' है । इसकी रचना हुए अभी दस-बारह वर्ष हुए हैं । अतः जिन-जिन समस्याओं को लेकर इसके

कथानक का संगठन किया गया है, वे आज भी ज्यों की त्यों सामयिक हो बनी हुई हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न जिस पर इसमें विचार किया गया है, ग्राम-समस्या का है। 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि', दोनों में, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रेमचंदजी पहले भी इस विषय पर भली भाँति प्रकाश डाल चुके थे। परंतु, जिस प्रकार 'रंगभूमि' में 'प्रेमाश्रम' में वर्णित समस्या को छोड़कर, उसके विकसित रूप का विवेचना की गयी है; दूरे शब्दों में, जसे 'प्रेमाश्रम' में ग्राम-समस्या के पूर्वाद् और रंग-भूमि में उत्तराद् पर प्रकाश डाला गया है, उसी प्रकार गोदान में क्रमानुसार जैसा होना चाहिए था, 'रंग-भूमि' की समस्या का विकसित रूप नहीं मिलता; प्रत्युत 'गोदान' की समस्या 'प्रेमाश्रम' में वर्णित विषय के ही अधिक समोप है। विशेषता इसमें केवल इतनी है कि उपन्यासकार ने अपने इस अंतिम उपन्यास (गोदान) में युधावसर थोड़े परिवर्तन भी किये हैं। 'प्रेमाश्रम' की रचना के समय थोड़े से ही व्यक्ति ग्राम-समस्या के प्रश्न पर विचार कर रहे थे; परंतु वर्त्तमान समय में, इसके विपरीत, जनता, कॉंग्रेस और सरकार सभी इस विषय में रुचि ले रहे हैं। यही बात 'गोदान' में भी मिलती है। सामाजिक और धार्मिक रचनाओं के विषय में भी यही सत्य है। परियामस्वरूप 'गोदान' में एक ओर तो ग्रामों की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक स्थितियों की वर्त्तमान दशा का दिग्दर्शन कराया गया है और दूसरी ओर निकटतम संबंधित उन नागरिकों के आचार-विचार रहन-सहन, वेश भूषा और उद्देश्य-आदर्श का, जो नगरों में शान्त-सौक्य से रहते हैं, सुख से जीवन बिताते हैं और शहरों के पचासों आदमियों को अपना गुलाम समझते हैं। राजनीतिक शब्दावली में इन नागरिकों को पूँजीपतियों के नाम से पुकारा गया है। वर्त्तमान समय में इनका जो विरोध किया जा रहा है, उसके संबंध में प्रेमचंदजी ने अधिक नहीं लिखा; परंतु उन्होंने यह अवश्य दिखा दिया कि सुधार करने की इच्छा रखनेवाले अधिकांश पूँजीपति अपने श्रम

प्रयत्न में किन-किन कारणों से असफल रहते हैं ।

यह तो हुई पूँ जीपतियों के आंतरिक जीवन की वास्तविक सामाजिक स्थिति के कारण उनकी विवशता और भी बढ़ गयी है। एक तो उन्हें समाज में अपनी नाक के लिए अव्यय और अपनी मर्यादा बनाये रहने के लिए असंख्य प्राणियों पर अत्याचार करना पड़ता है और अपने अफसरो की निगाह में स्वामिभक्त बने रहने के लिए उनकी जैसी-तैसी आज्ञाओं का पालन ; साथ ही पारिवारिक जीवन भी उनका सुखद नहीं है। उनके पुत्र उनका सम्मान करने में हिचकते हैं, उनकी पुत्रियाँ उनका कहना मानने को तैयार नहीं होतीं। इन कठिनाइयों और विवशताओं के लिए तो हम उनके साथ सहानुभूति प्रकट करेंगे; परंतु जब वे अपने भौतिक सुखों की लालसा से—‘गोदान’ में हम यही देखते हैं—अपनी सती-साध्वी स्त्री का अपमान करते हैं, अथवा निर्धन निरीह किसानों के पसोने की कमाई निर्दयता के साथ वसूल करके पानी की तरह वेदों से बहाते हैं, तब हमें संतोष नहीं होता। पूँ जीपतियों का जो विरोध आज हो रहा है, प्रेमचंदजी ने भी उसका यही कारण बताया है, यहाँ तक कि हड़ताल की तरफ संकेत करना भी वे नहीं भूले हैं।

‘गोदान’ की दूसरी महत्वपूर्ण और नयी समस्या स्त्री-शिक्षा और उनका स्वतंत्रता-संबंधी आन्दोलन है। इस उपन्यास में जिन-जिन आधुनिक समस्याओं को विवेचना अथवा व्याख्या की गयी है, उनमें यही सबसे प्रधान है। इस संबंध में प्रेमचंदजी ने अपने एक विद्वान और योग्य प्रोफेसर द्वारा एक व्याख्यान भी दिलाया है। इस आन्दोलन के विषय में यहाँ अधिक नहीं कहना है; क्योंकि यह एक स्वतंत्र लेख का विषय है। अतः हम केवल इतना ही कहकर यह प्रसंग समाप्त करते हैं कि स्त्री-शिक्षा के कट्टर पक्षपाती होते हुए भी प्रेमचंदजी प्रचीन भारतीय आदर्श के ही अनुयायी जान पड़ते हैं और वर्तमान समाज में अपनी स्वतंत्रता के लिए प्रयत्नशील युवतियों

की स्वच्छंदता-प्रियता उन्हें पसंद नहीं। 'गोदान' में वे इसका विरोध करते दिखाई देते हैं।

हिन्दी-पत्रकारों की स्थिति, नगरों में मजदूरों की दीन और दयनीय दशा, बेकारी की बढ़ती हुई समस्या, गाँवों में सफाई का प्रश्न, धार्मिक पाखंड और अंधविश्वास आदि अन्य अनेक छोटी-मोटी समस्याएँ हैं जिनपर प्रेमचंदजी ने 'गोदान' में, उसके पहले लिखे अपने अन्य उपन्यासों में भी, यत्र-तत्र प्रकाश डाला है। जो बहुत चलताऊ है। इनके विषय में हम भी कुछ नहीं कहना चाहते। हाँ, जिन मुख्य-मुख्य समस्याओं की विवेचना हमने ऊपर की है, उनका पूरा इतिहास हमें प्रेमचंदजी के उपन्यासों में मिलता है। इनका विकास क्रमबद्ध है। दूसरी बात यह है कि प्रेमचंदजी के विचार, इन समस्याओं के संबंध में किस प्रकार बदलते रहे हैं, उनके उपन्यासों के पढ़ने से हम यह भी ज्ञात होता है। इन्हीं दोनों कारणों से हम कह सकते हैं कि यद्यपि रोचकता, कला आदि विशेषताओं में हिन्दी-साहित्य के अन्य उपन्यास, प्रेमचंदजी के उपन्यासों की अभी बराबरी नहीं कर सकते; तथापि, संभव है, दस-पॉच वर्ष बाद कोई समय ऐसा आवे, जब इनसे भ्रष्टतर उपन्यास हिन्दी में लिखे जायँ; उस समय भी अपने सामाजिक समस्याओं के विवेचनात्मक और क्रमबद्ध वर्णन के कारण प्रेमचंदजी के उपन्यासों का पर्याप्त सम्मान होगा, और इस वर्तमान समय की सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक स्थिति का इतिहास लिखनेवाले के लिए तो वे उपन्यास इतिहास-ग्रंथों का-सा काम देंगे।

—प्रेमनारायण टंडन

प्रेमचंद और आधुनिक स्त्री समाज

“स्वदेश की अभी तक किसी ने व्याख्या नहीं की, पर नारियों की मानरक्षा उसका प्रधान अंग है और होना चाहिए।”

— रंगभूमि (पृ० ४८४)

यों तो आज भारतवर्ष वैज्ञानिक उन्नति का प्रश्न छिड़ने पर संसार के अनेक सभ्य देशों से पिछड़ा हुआ समझा है, तथापि भारतीय धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक नियमों का निर्माण जिस वैज्ञानिक ढंग से किया गया था, उसको आज विज्ञान-विशारद भी मानते हैं। प्रेमचंदजी ऐसे लेखक थे जिनको भारतीय आदर्शों पर अभिमान था। उनकी कृतियों का विवेचनात्मक अध्ययन कर पर हमें इस कथन की सत्यता का विशेष ज्ञान हो सकता है।

सामाजिक उन्नति, हमारे भारतीय आदर्श के अनुसार, स्त्री-पुरुष की पारस्परिक सहानुभूति पर अवलंबित रहती है। इसी से हमारे यहाँ स्त्री को पुरुष की अर्द्धांगिनी कहा गया है। सामाजिक जीवन की बात तो जाने दीजिए, धार्मिक कृत्यों में स्त्री के बिना पति और पति के बिना स्त्री का कार्य पूर्ण नहीं समझा जाता। महाराज रामचंद्र ने अपने यज्ञ में, सीता को अनुपस्थिति में, स्वर्ण की प्रतिमा बना कर इस बात को और भी महत्व दे दिया था। कालांतर में भक्ति के उपासकों ने—संकेत मैथिल-कोकिल विद्या-पति और हिंदी के शृंगारी कवियों की ओर है—कृष्ण और राधा की अलौकिक प्रीति को जन-साधारण की दृष्टि में लौकिक बनाकर इस ‘नियम’ को और भी दृढ़ कर दिया। अस्तु !

हम देखते हैं प्रेमचंद की दृष्टि में स्त्री पुरुष की ‘सहचरी’ है, ‘अनुचरी’ नहीं। हाँ, अपनी सेवा, भक्ति और अनुपम त्याग के कारण

भारतीय नारी स्वयं अपने को पति की अनुचरी समझती है। यही बात 'कायाकलर' (पृ० ४४४) के नायक की स्त्री भी कहती है— नारी के लिए पुरुष-सेवा से बढ़कर और कोई विलास, भोग और शृंगार नहीं है। परंतु कौन कह सकता है कि नारी का यह त्याग, उसका यह सेवा-भाव ही आज उसके अरमान का कारण नहीं हो रहा है। पुरुष इसको अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझने लगे हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे, स्नेह और आदर के साथ दी जानेवाली सरल प्रकृति के किसानों की भेंट को, आज हम 'इक' के नाम से पुकारते हैं ?

प्रेमचंदजी स्त्रियों का बड़ा सम्मान करते थे। उनके जिस मातृत्व पद को—आधुनिक अर्थशास्त्र के युवक-विद्यार्थी वर्तमान आर्थिक और राजनीतिक परिस्थिति के कारण कुल, समाज और राष्ट्र के लिए भार समझते हैं उसे ही वे कितने सम्मान की दृष्टि से देखते थे, यह हमें मिस्टर मेहता के गोविंदों से कहे हुए इन वाक्यों से ज्ञात हो जाता है—

मैं समझता हूँ कि नारी केवल माता है और इसके उपरान्त वह जा कुछ है, वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान् विजय है। एक शब्द मैं उसे लय कहूँगा, जीवन का व्यक्तित्व का और नारीत्व का भी—गोदान (पृ० ४३३)

यह पूर्ण सत्य है कि सामाजिक दशा पर आर्थिक और राजनीतिक स्थिति का बड़ा प्रभाव पड़ता है, परंतु वास्तव में वे अर्थशास्त्रज्ञ इस प्रभाव को ओर ध्यान नहीं देते और न स्त्री के मातृत्व पद की इसलिए अवहेलना ही करते हैं कि संतानोत्पत्ति से हमारी आर्थिक दशा पर कोई प्रभाव पड़ेगा, प्रत्युत इसका प्रधान कारण सुखोपभोग की इच्छामात्र है। यह मेरा निजी मत है ; अतः विचारणीय है।

परन्तु प्रेमचंद की उक्त सम्मति उनके अंतिम उपन्यास 'गोदान' की होने के कारण, संभव है, कुछ महानुभावों को आपत्तिजनक जान

पड़े, इसलिए स्त्री-विषयक उनके विचारों की विवेचना करने के लिए हमें उनका भी प्रधान उपन्यासों का क्रमानुसार अध्ययन करना पड़ेगा। आरंभ में उनका 'सेवासदन' प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास की स्त्रियों में सुमन का चरित्र ही प्रेमचंद की मार्कें की कृति है। गार्हस्थ्य जीवन की शोचनीय परिस्थिति और आर्थिक कठिनाइयों के कारण उसका 'पतन' होता है, परंतु प्रेमचंदजी उसका बड़ी सुंदरता और कुशलता से उद्धार करते हैं। हिंदू समाज चाहे अपने विचारों की संकीर्णता के कारण उसे न अपनाकर अपनी चतुरता प्रदर्शित करता रहे, चाहे हमारे पुधारक नामधारी जीव प्राचीन लकीर के फकीरों के ढर से उसे आनान में हिचकते रहे, चाहे हमारे तिलकधारी उसे विधवाश्रम में रहने भर को भी स्थान न दें, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस विशाल हृदयता के कारण 'चरित्रहीन' के सुप्रसिद्ध बंगाली उपन्यासकार ने अपने नायक की 'होस्टेल' की प्रेमिका का धर्म बचाया है, उसी प्रकार प्रेमचंद जी ने हिंदू समाज की अनेक निर्वासिता, उपेक्षिता तथा अपमानित स्त्रियों का सम्मान किया है।

'प्रेमाश्रम' में परिस्थिति दूसरी है। उसमें प्रधान पात्रियों को आर्थिक संकट नहीं है। हाँ, अपने पतियों की ओर से वे धर्म-संकट में पड़ जाती हैं—ज्ञानशंकर लोभी हैं और अपने स्वजनों का अहित करके भी धन प्राप्त करना चाहते हैं; प्रेमशंकर समुद्रयात्रा से लौटकर शुद्धिसंबंधी कार्य को पाखंड समझते हैं। ज्ञानशंकर की स्त्री का इस प्रकार पति का विरोध करना मनुष्यता की दृष्टि से समाज के लिए, सत्य ही, आवश्यक है और प्रेमशंकर की स्त्री तो भारतीय आदर्श नारी की प्रतिमूर्ति है ही, जिसमें त्याग है, सेवाभाव है और पति के इशारे पर न्यौछावर हो जाना जिसका गौरव है।

'कायाकल्प' के राजा की प्रथम तीन-तीन रानियों से हमें कोई मतलब नहीं। मनोरमा का त्याग, अपने प्रिय स्वामी की आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए अपने सुख, अपने विलास, अपने

जीवन-सार, सब का बलिदान कर देना वास्तव में बड़े महत्व का है। ईंग्लैंड के सुप्रसिद्ध लेखक चार्ल्स डिक्केन्स के 'ए टेन आव टू सिटीज' नामक उपन्यास का प्रतिद्वंद्वी नाटक सिडनी कार्टन जिस प्रकार अपनी प्रेमिका के पति को बचाने के लिए अपने प्राण दे देता है; उससे 'काय-कलर' की मनोरमा का त्याग कहीं बढ़कर माना जायगा।

इसी प्रकार 'गवर्न' की नायिका भी यद्यपि आरंभ में धोका खा जाती है तथापि वह मानिनी हिंदू नायिका है। उपन्यास का विषय दूसरा होने के कारण प्रेमचंदजी ने उसके चरित्र की इस विशेषता पर विशेष प्रकाश नहीं डाला, इसी से हम भी इसे छोड़ 'रंगभूमि' की रानी जाह्नवी की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं। भारतीय इतिहास के हिंदू-सम्राटों के काल में रामायण-महाभारत काल में तो कम, राजपूतों के समय में बहुत ही अधिक हमने देश, धर्म, सम्मान आदि के लिए अपने पुत्रों का बलिदान करती हुई अनेक माताएँ देखा हैं। परंतु आधुनिक युग में वंसी ही बोर माता की सृष्टि करके प्रेमचंद जी ने उस कमी को दूर किया है जो वर्तमान-काल में देश के लिए अत्यंत आवश्यक होते हुए भी, हमारे उपन्यासों में नहीं मिलती। अपने पुत्र का हँसते हँसते बलिदान कर देने का जो संदेश रानी जाह्नवी ने हमारी माताओं और बहनों को दिया है, राजपूत काल का अध्ययन करने वाले इसे भली भाँति जानते होंगे।

यह अंतिम बात अवसर अथवा परिस्थिति-विशेष के लिए ही आवश्यक होती है; मान-सम्मान, धर्म और देश के लिए प्राण दे देना मनुष्य मात्र की सजीवना का लक्षण होते हुए भी, स्त्रियों का यही प्रथम कर्तव्य नहीं है। समाजिक जीवन में स्त्री का पति के साथ व्यवहार ही मुख्य धर्म समझा जाता है। ऊपर पति के प्रति भारतीय स्त्री के जिस व्यवहार की ओर सकेत किया गया है; धर्म में आज परिवर्तन हो रहा है; स्त्रियों अपनी 'स्वतंत्रता' के लिए प्रयत्नशील हैं। दूसरे शब्दों में आज प्राचीन भारतीय और आधुनिक पारबल्य

आदर्शों का संघर्ष हो रहा है। विचार से देखा जाय तो हमारी सबसे प्रधान सामाजिक समस्या यही है। प्रेमचंदजी ने इसे बहुत अच्छी तरह समझा था। उनका 'गोदान' वास्तव में ऐसा रंगमंच है जहाँ इन दोनों आदर्शों से प्रभावित स्त्रियों का संघर्ष दिखाया गया है। मिस्टर खन्ना की स्त्री हमारी भारतीय नारी है जो पति से तिरस्कृत होकर भी पति-सेवा और पुत्र-प्रेम को जीवन का एक मात्र उद्देश्य समझती है; दूसरी और मालती है जिसे हम आधुनिक पार्श्वस्थ रंग में रँगी फुदकती चिड़िया के रूप में पाते हैं। हमारे मिस्टर खन्ना-सरीखे आधुनिक शिक्षित और धनी-माना सज्जन अपनी बीबी को 'दाल-भात' बताकर 'भिठाई' चाहते हैं और रंगरेजियों में मस्त मालती-सरीखी 'कुमारियों' के तल्लुप चाटने में ही जीवन की सफलता समझते हैं। फलतः अपनी स्त्री का तिरस्कार करके उन्हें जैसी माननिक अशांति होती है, उनकी दशा जैसी दयनीय हो जाती है, उसका परिचय हम खन्ना के चरित्र से मिल जाता है।

अशांति और निराशा-प्रदर्शन-संघर्षी इस कार्य में, संभव है, किसी को विचारों की संकीर्णता दिखाई दे, परंतु स्त्री स्वतंत्रता-विषयक मिस्टर मेहता का व्याख्यान उस सत्य और सूक्ष्म विवेचना का परिचायक है जो भारतीय सामाजिक जीवन को सुखद और उन्नत बनाने तथा आधुनिक प्रचलित सामाजिक दलों को दूर करने के लिए अत्यंत आवश्यक है। अग्राह-स्वरूप धनियों के ---जनकी संख्या भारत में एक प्रतिशत से अधिक नहीं है एक आध विवाह को छोड़कर हमें तो यह विदेशी रीज भारत की सर्वत्र भूमि में फलता-फूलता नहीं दिखाई देता। यदि वैज्ञानिक ढंग से इस कार्य में कोई सफलता भी प्राप्त कर लेगा तो उसमें पार्श्वस्थ कृत्रिमता ही मिलेगी, भारतीय स्वाभाविकता नहीं।

प्रश्न हो सकता है कि क्या प्रेमचंद जी आधुनिक स्त्री-शिक्षा के विरोधी हैं। इसका सीधा-सादा उत्तर यही है कि स्त्री-शिक्षा का हमारा

उद्देश्य स्त्री को उसका कर्तव्य समझाना और पति के कार्य में सहायता करने योग्य बनाना मात्र रहा है। प्रेमचंदजी इसी के पक्षपाती हैं। आधुनिक शिक्षित नवयुक्तियों में जैसी लाजहीन चहँडता या स्वच्छंदता दिखाई देती है, उसे वे आदर की दृष्टि से नहीं देखते। ध्यान रहे कि स्त्रियों के प्रति उनके हृदय में बड़ा सम्मान था, फिर भी मिस मालती-सरीखी शिक्षित नव-युवतियों और उनका बाह्य अडंबर-पूर्ण शृंगार उन्हें पसंद नहीं था। मिस मालती का चित्र देखिए :—

दूसरी महिला जो ऊँची पड़ी का जूता पहने हुए हैं और जिनकी मुख छवि पर हँसी फूटी पड़ती है, मिस मालती हैं। आप ईंगलैंड से हाकटरी पद आई हैं और अब प्रेक्टिस करती हैं। तारलुकेद रो के महलों में उनका बहुत प्रवेश है। आप नवयुग की सच्चात् प्रतिमा हैं। गीत कोमल, चपलता कूट-कूट कर भरी हुई; भिन्नक या संकोच का नाम नहीं, मेकअप में प्रवीण, बला की हाज़िर-जवाब, पुरुष-मनाविज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद प्रमोद को जीवन का तत्त्व समझनेवाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण, जहाँ आत्मा का स्थान है वहाँ हाव-भाव, मनोद्वारों पर कठोर नियंत्रण, जिनमें इच्छा या अभिलाषा का लोभ-सा हो गया है।

गोदान (पृ० ८६-६०)

यह है हमारी शिक्षिता, अविवाहिता, नवयुवती का चित्र। आधुनिक स्त्री-स्वतंत्रता-संबंधी आंदोलन के पक्षपाती पुरुष भी बहुत हैं और स्त्रियों भी। अपने हृदय पर हाथ रखकर वे स्वयं सोचें—केवल मौनिक उपदेशों और व्याख्यानों से काम नहीं चलेगा—कि क्या वे अपनी पुत्री को उक्त मिस मालती बनाना चाहती हैं? क्या मिस मालती बनाकर अपने गृहस्थ जीवन में उनको कभी सुख मिल सकेगा?

आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा का जो सबसे भयंकर प्रभाव हमारे नवयुवकों और नवयुवतियों पर पड़ा है, वह हमारी सम्मति में, यही है

कि उन्होंने संभवतः भौतिकता को ही प्रधानता देकर गंभीर अध्ययन भौतिक विवेचन और सरल आचरण संबंधी प्राचीन भारतीय आदर्श को सर्वथा भुजा दिया है। फलतः हमारे पढ़े-लखे युवकों को फैशनेबल लैडियों और शिष्टिता अथिब हिन नवयुवतियों को फैशनेबुल जेंटिलमैन हो पसंद आते हैं। यदि इस 'पसंद' का कारण, समता, प्रेम, भक्ति त्याग आदि की नींव होनी तो बकी सुंदर बात थी, परंतु यदि इसका कारण क्षणिक भाव-वेश सा अजन ही हो, तब हम उसका प्रशंसा नहीं करने। प्रेमचंदजी के विचार भी यही हैं। 'गोदान' के मिस्टर खन्ना धनी है, सज्जन, शिष्ट, उदार अधिकारी—जनता की दृष्टि में सभी-कुछ—हैं। परंतु उनको अपनी सती-साधवी स्त्री गोविंदी से प्रेम नहीं है। हाँ, उनका हृदयोद्यन मिस मानक के कृत्रिम कजरव से गुँज उठता है। प्रेमचंद के दृष्ट में मिस्टर खन्ना का इस प्रकार अपनी पत्नी से विश्वासघात करना सरासर गुरूत्ता है। घर आए नाग न पूरिए, बाँबा पूजन जाय-सा है। सारी परिस्थिति की आलोचना मिस्टर मेहता के मुँह में कगते हुए ये करते हैं

खन्ना अमीरों हैं जो हीरा पाकर कौंच का टुकड़ा समझ रहे हैं। सोनिए, (उनकी स्त्री में) किनन त्याग है और उनके साथ हो (पन) से कितना प्रेम है! खन्ना के कामासक्त मन में शायद उनसे लिए रक्ती भर स्थान भी नहीं है; लेकिन आज खन्ना पर कोई आफत आ जाय तो वह अपने को उन पर न्यौछावर कर देगी। खन्ना आज अघे या कीदी हो जायँ तो भी उसको एक दागी में फँक न आएगा। अभी खन्ना उसकी कद्र नहीं कर रहे हैं, मगर आप देखगे, यही खन्ना एक दिन उनके चरण धोकर पिँगे। मैं ऐसी बीबी नहीं चाहता जिससे मैं अइमस्टीन के सिद्धांत पर बहस कर सकूँ, या जो मेरी रचनाओं के प्रूफ देखा करे। मैं ऐसी औरत चाहता हूँ, जो मेरे जीवन को पवित्र और ठज्वल बना दे, अपने प्रेम और त्याग से।

गोदान (पृ० २४४)

ऊपर के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यद्यपि प्रेमचंद जी स्त्रियों के लिए शिक्षा की आवश्यकता समझते थे, परंतु सुप्रसिद्ध अँगरेजी लेखक जान रस्किन की तरह उनकी स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य भी स्त्रियों को दायित्व का महत्व समझाना था, फैशन अथवा विलास-प्रियता को वृद्धि करना नहीं, जिसे आज सम्यता के अन्तर्गत बतलाया जाता है। पाश्चात्य देशों की तरह स्त्रियों से वे पैसा नहीं पैदा कराना चाहते थे। इस बात का प्रमाण 'कायाकल्प' में उस स्थान पर मिलता है जब उसका नायक अपनी स्त्री के लेख के पारिश्रमिक-संबंधी धन से लाए हुए कंबल को ओढ़ने की अपेक्षा, सड़ों में ठिठुरते हुए रात काट देता है। कुछ लोग इसे लकीर का फकीर सा बतलावेंगे, परंतु वस्तुतः इसका कारण यह है कि भारतीय समाज में स्त्री के भरण-पोषण का अधिकार पुरुष को है। स्त्री यदि स्वयं इसकी चिंता करेगी, स्वयं पैसा पैदा करने का प्रयत्न करेगी, तो भारतीय आदर्श के विपरीत, यह निश्चित है कि पति से स्वाधीन होने का विचार उसमें पैदा होगा, जो क्रमशः किसी न किसी समय में, पारस्परिक विरोध का रूप धारण करेगा। इसका परिणाम अन्ततः कलह है। सम्भव है, साथ-साथ धन कमानेवाले दम्पति में प्रेम, सहानुभूति और त्याग के सात्विक भाव भी हों, पर ऐसा प्रायः बहुत कम होता है। कारण, दिन भर के हारे-थके पुरुष की सारी थकावट घर की स्वामिनी की एक मधुर मुस्कान से तो दूर हा सकती है पर कमाऊ स्त्री के थके-मोँदे प्यार से नहीं। एक शब्द में, इसका आशय यही है कि प्रेमचंद जी स्त्री

की शिक्षा के पक्षपाती होते हुए भी उसे घर की स्वाभिनी बनाना चाहते हैं, बाहर के सार्वजनिक जीवन का ऐसा प्रतिद्वंदी नहीं जिसको, हम जानते हैं कि कारण-विशेष से सदैव 'मिफरेंस' दिया जाता है ।

रह गई स्वतंत्रता-संबंधी आधुनिक स्त्री-आंदोलन की बात । प्रेमचंद जी ने, जान पड़ता है, इस महत्वपूर्ण समस्या का गम्भीर अध्ययन किया था । उनकी सम्मति है कि स्त्रियाँ स्वतंत्रता के लिए जो आंदोलन कर रही हैं, वह केवल इसलिए कि आज पुरुष समाज उनका आदर नहीं करना चाहता, उसमें गुण ही नहीं है और न है गुण-ग्राहकता । 'गोदान' की मिसेज खन्ना के मुँह से यही बात सुनिष्ट —

वास्तव में पुरुष का कर्तव्य वह भूला हुआ है कि नारी श्रेष्ठ है और सारी जिम्मेदारी उसी पर है । श्रेष्ठ पुरुष है और उसी पर गृहस्थी का सारा भार है । नारी में सेवा, संयम और कर्तव्य सब कुछ वही पैदा कर सकता है । अगर उसमें इन बातों का अभाव है तो नारी में भी रहेगा । नारियों में आज जो विद्रोह है, इसका कारण पुरुषों का इन गुणों से शून्य हो जाना है ।

यह विचार अधिकांश में ठीक ही है । भौतिकवाद संबंधी पाश्चात्य आदर्श को जीवन का चरम लक्ष्य समझने वाले नव-युवक स्त्रियों को केवल मनोरंजन का ऐसा मुख्य साधन समझते हैं जो दैवी एवं मानुषी सामाजिक नियमों की सहायता से उन्हें उपलब्ध है । युवावस्था के आवेग-पूर्ण आवेश में वे गृहस्थ जीवन की शांति और सामाजिक उन्नति का विचार न कर

नवयुवतियों के मुख्यतः वाह्य रूप और आकर्षण पर मुख हो जाते हैं । परिणाम-स्वरूप, रूप का वाह्य आकर्षण उनके आवेशपूर्ण सन्माद को उत्तेजित तो अवश्य करता है, परंतु तुष्ट नहीं । उधर मानव-जीवन के समस्त संघर्ष का मूल कारण पूर्ण सुख प्राप्ति-संबंधी उद्योग है । फल यह होता है कि संतुष्ट न होकर अंत में उनका जीवन, अशांतिपूर्ण हो जाता है । इस असंतोष और अशांति को दूर करके सुख-संतोष प्राप्त करना ही प्रेमचंद के स्त्री-समाज का प्रधान उद्देश्य है । इसका उपाय उन्होंने मिस्टर मेहता के व्याख्यान द्वारा (गोदान में) बता दिया है—नवयुवतियों की शंकाओं का समाधान भी उन्होंने कर दिया है । अपने सामाजिक-गृहस्थ-जीवन में जिस शांति और सुख-संतोष के लिए मनुष्य तालायित और प्रयत्नशील रहता है वही प्राप्त करना जिन्होंने अपना जीवनादर्श बना लिया है—या समझते हों—उन्हें मिस्टर मेहता के उस व्याख्यान का सहृदयतापूर्वक अध्ययन करना चाहिए । स्त्रियों की आधुनिक समस्या भी, प्रत्येक प्रश्न को राजनीतिक दृष्टि से देखनेवाले जिसे आंदोलन के नाम से पुकारते हैं—उससे स्पष्ट हो जाती है और उसके पक्षपातियों की शंकाओं का समाधान करने में भी हम सफल हो सकते हैं ।

इस संबंध में एक बात वे पुरुषों से भी पूछते हैं । हम क्यों ऐसा समझते हैं कि स्त्रियों का जीवन केवल भोग विलास के लिए ही है ? क्या उनका हृदय ऊँचे और पवित्र भावों से शून्य होता

है ? वास्तव में हमी ने उन्हें कामिनी, रमणी, सुंदरी आदि विलास सूचक नाम देकर वास्तविक बीरना, त्याग और उत्सर्ग से शून्य कर दिया है। अगर सभी पुरुष वासनाप्रिय नहीं होते तो सभी स्त्रियों वासनाप्रिय क्यों होने लगीं ? कायाकल्प पृ० ४३६) सत्य ही इन बातों पर उदारतापूर्वक विचार करने से ही यह सामाजिक समस्या हल हो सकती है। हमारे सुधारक कोरी लोकचरबाजी न करके समस्या अथवा आंदोलन के मूल कारणों की प्रेमचंद की ही तरह विवेचना करेंगे, तभी उन्हें सफ़लता मिलेगी।

— प्रेमनारायण टंडन

प्रेमचन्द की कहानो-कला

प्रेमचन्द को कहानी-कला का विश्लेषण करना कठिन है, क्योंकि उनकी कहानियाँ जीवन के स्वाभाविक चित्र खींचती हैं। उनमें कोई बेलबूटे, कारीगरी और तक्काशी जैसी चीज नहीं है, जो मूलवस्तु से अलग करके कह दो जाय कि यह कला है। जैसे एक एक पंखुगी और उस पर स्वाभाविक रीति से आया हुआ हल्का तेज रंग— सब मिलकर फूल को सामूहिक रीति से स्वाभाविक सौंदर्य प्रदान करते हैं, उसी प्रकार से मनुष्य के एक एक क्षण का जीवन उसी का त्यों सामने रखकर, अपनी स्वाभाविक आलोचना-शक्ति और समाज की बलियायकारिणी संवेदना के द्वारा, वे जो उसकी व्याख्या करते हैं, वही हमें जीवन का रहस्य, जीवन-यापन का सुखद शैली, उसका अपूर्व सौंदर्य बताती है और वही उनकी कहानी-कला का संजावना शक्ति है।

उनकी कहानियों को पढ़कर हमें पता लगता है कि मानव जीवन के विविध रूपों का उनका ज्ञान कितना गहरा था। उनकी कहानियों कोरी कल्पना के सहारे नहीं, बरन् देखे-सुने, अद्भुत और थाह पाये हुए जीवन के बलबूटे पर लिखी गई हैं और वे दुर्बल-सबल, हीन-परिपूर्ण, स्वार्थी-पराधी, क्षुद्र-उदार, भोली-चतुर मानवता के चित्रण हैं। उन्होंने अपने कथा-साहित्य में उसी वर्ग के चित्रण का प्रयत्न किया है, जिसका उन्हें यथार्थ और पूरा ज्ञान है। जिसको उनकी अनुभव-परिधि नहीं छू पायी, उसके अयथार्थ चित्रण का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया। यथार्थ में कहानी सबसे उत्तम, स्वानुभूत जीवन को ही लेने से बनती है। प्रेमचन्द जी के अनुभव से बाहर पङ्खेवाले उच्चवर्ण का चित्रण, एक तो उनकी कहानियों में है ही बहुत

कम और जो है भी वह उतना मार्मिक नहीं, पर इसका कारण, केवल यही नहीं कि उच्चवर्ग के जीवन का अनुभव उनका कम था, ऐसा कहना उनकी कलानाशक्ति, प्रतिभा तथा अनुभव पर अविश्वास करना है—वरन् इसका कारण यह भी था कि उन्होंने जीवन का प्रकृत रूप, स्वाभाविक रस, साथ ही समस्याओं की जो उलझन और बेबसी, संस्कृति और आदर्श के जो भग्नावशेष उन्हें सामान्य और मध्यवर्ग में दिखलाई दिये, वे प्रायः कृत्रिम और मंत्रवत, बाह्याडंबर युक्त जीवन बितानेवाले उच्चवर्ग के भीतर नहीं हैं। इसलिए भी प्रेमचन्द ने सामान्य जीवन को चुना। निर्धन भारत देश में जीवन का स्वाभाविक रूप उच्चवर्ग के भीतर नहीं, वरन् साधारण जनसमूह के भीतर ही देखने को मिलता है, इसी लिए प्रेमचन्द ने उसकी दुर्बलताओं और आदर्शों को पूर्णतः स्पष्ट करने का प्रयत्न किया।

अपनी दृष्टि से जीवन को भाँकी देना ही प्रेमचन्द अपना प्रमुख कर्तव्य समझते हैं। यही प्रेमचन्द की कहानियों का मुख्य उद्देश्य है। यही उनकी प्रत्येक कहानी की प्रेरक शक्ति है। कहानी के अंग और कहानीकला के आधार कथानक, कथोपकथन, चरित्रचित्रण, वर्णन, भाषाशैली आदि सभी गौण हैं; वे इन पर ध्यान रख कर नहीं लिखते, वरन् वे जो कहना या व्यक्त करना चाहते हैं, उसी पर उनका ध्यान रहता है और उसी को वे उस परिस्थिति का यथार्थ दिग्दर्शन कराते हुए, पूर्ण रूप से प्रकाशित करते हैं। यह एक प्रमुख अथवा एकमात्र कारण है जिससे प्रेमचन्द का कहानी की शैली या अभिव्यक्ति में एकरसता या एकस्वरता न होकर विविधता और रोचकता विद्यमान है। प्रेमचन्द के किसी भी संग्रह की दो एक कहानियाँ पढ़ने पर हमारा मन यह नहीं कहता कि और भी कहानियाँ इसी प्रकार की होंगी; वरन्, प्रत्येक नयी कहानी नवीन रोचकता, आकर्षण और आभा लेकर हमारे सामने आती है। जो लोग केवल कहानी-कला और उसके विविध अंगों के ज्ञान के

बलबूते कहानी लिखते हैं उनमें वह बात नहीं आता। किसी भी कला का शास्त्रीय ज्ञान होना एक बात है और उसका कर्ता, स्रष्टा अथवा कलाकार होना दूसरी बात। प्रेमचन्द मानव जीवन की कहानी के कलाकार है, उसके रचयिता हैं। उसके सौन्दर्य की अभिव्यंजना-कोशल की उन्हें जन्मजात परख और पकड़ है, क्योंकि उनका हृदय और मन क्रमशः बड़े कोमल और सूक्ष्म हैं।

प्रेमचन्द की कहानियों की उद्देश्यगर्भिता ने ही उनको शैली और वस्तु को एक रूप कर दिया है। जब हम प्रेमचन्द की कहानियाँ पढ़ते हैं तो हमें उनकी शैली आकर्षित करती नहीं जान पड़ती, वरन् जो आकर्षित करते हैं वे हैं, उनके भाव, कथानक, चरित्र-विश्लेषण जिनको अपने विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्रष्टा करना प्रेमचन्द का प्रधान लक्ष्य होता है; फिर भी, उनकी भारी बड़ी ही जोरदार शैली है। यह हम तब समझते हैं जब अन्य कहानीकारों की कहानियाँ पढ़ते हैं। यह ठीक ऐसा ही है जैसे जब हम किसी कुशल वक्ता का चाराप्रवाह भाषण सुनते हैं तो ऐसा जान पड़ता है कि हम भी इसी प्रकार भावपूर्ण भाषण सरलता से दे सकते हैं, पर जब प्रयत्न करते हैं तब वक्ता की भाषणशक्ति की विशेषता समझ में आ जाती है। यही हाल प्रेमचन्द की कहानियों का है। इनकी कहानी पढ़कर न जाने कितने लेखक बने, पर प्रेमचन्द अकेले ही रहे। इसका कारण प्रेमचन्द की कहानियों की विशिष्टताएँ हैं। इन्हीं के अन्तर्गत हम उनकी कहानी-कला का विश्लेषण भी प्राप्त कर लेते हैं।

सबसे पहली बात है प्रेमचन्द का कुतूहल जगाना और जाग्रत रखना। कथानक में जो घटनाएँ आती हैं वे प्रायः अप्रत्याशित या अपूर्वकल्पित होती हैं, जैसी हम सोचते हैं वैसी नहीं। इतना होते हुए भी घटनाओं में अस्वाभाविकता की गंध तक नहीं होती। इससे कुतूहल जाग्रत होता है, परन्तु इस प्रकार के जाग्रत कुतूहल को सजग

रखने में सहायक वार्तालाप होता है। प्रेमचन्द की कहानियों का वार्तालाप, चरित्र विश्लेषण की दृष्टि से नितान्त स्वाभाविक होता है, पर रोचकता की दृष्टि से बात बात में नवीनता और आकर्षण रहता है। वार्तालाप में ही यह विशेषता रहती है कि उससे कहीं तो सारी समस्या सुनभू जाय और मन को बड़ा सन्तोष हो कि भगड़ा भूझट मिटा और वही कभी कभी इस हद तक पहुँच जाता है कि व्यर्थ का मनमुटाव होता है और दुःपरिणाम भेलना पड़ता है। (उनकी प्रसिद्ध कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' में बात को बात में ही दोनों जागीरदार मरिमटते हैं) इसी प्रकार 'आभूषण' कहानी में भी शीतला और विमल तथा सुरेश और मंगला में वार्तालाप से ही भयंकर परिणाम होता है जिससे पछुताना पड़ता है। ऐसे ही अनेक कहानियों के 'कथोपकथन' में ऐसा लगता है कि यह बात न कही होती तो क्यों ऐसा होता। प्रेमचन्द जी इस प्रकार के वार्तालाप से अपने निश्चित उद्देश्य की ओर पहुँचते हैं जहाँ व्यंग्य से उन्हें इस प्रकार के दुर्व्यवहार पर पश्चात्ताप कराने, समझाने और सुझाने का मौका मिलता है।

दूसरी विशेषता प्रेमचन्द के सूक्ष्म और पूर्ण मानसिक विश्लेषण की है। यह चरित्रचित्रण के अन्तर्गत है। इसे हम दो रूपों में प्रेमचन्द की कहानियों में देखते हैं—एक में तो वे मानव-जीवन के सामान्य चरित्र पर प्रकाश डालते हैं और दूसरे में विशिष्ट व्यक्ति का परिस्थिति-जन्य विशिष्ट स्वभाव का परिचय देते हैं। रोचकता की दृष्टि से प्रथम की अपेक्षा द्वितीय रूप अधिक रोचक होते हैं, पर शिक्षा की दृष्टि से, सूक्ति की दृष्टि से प्रथम अधिक उपयोगी है। प्रेमचन्द के इस संबन्ध के निरीक्षण प्रायः स्मरणीय हैं। जैसे—

‘संसार कहता है कि गुण के सामने रूप की कोई वस्ती नहीं। हमारे नीतिशास्त्र के आचार्यों का भी यही वाक्य है। पर वास्तव में यह कितना भ्रम मूलक है।’ — (आभूषण—मानसरोवर ६)

“मातृहीन बालक संसार का सबसे कष्टग्राहक प्राणी है। दीन से

दीन प्राणियों को भी ईश्वर का आधार होता है, जो उनके हृदय को संभालता रहता है। मातृहीन बालक इस आदर से भी वंचित होता है। माता ही उसके जीवन का एक मात्र आधार होती है। माता के बिना वह पंखहीन पक्षी है।” (गृहदाह—मानसरोवर ६)

“बच्चों के लिए बाप एक फालतू सी चीज है—एक विलास की वस्तु है, जैसे घोड़े के लिए चने या बाबुओं के लिए मोहनभोग। माँ रोटी-दाल है। (घरजमाई—मानसरोवर)

“केले का काटना भी उतना आसान नहीं, जितना किसान से बदला लेना। उसकी सारी कमाई खेतों में रहती है, या खलिहानों में। कितनी ही दैविक और भौतिक आपदाओं के बाद कहीं अनाज घर में आता है; और जो कहीं इन आपदाओं के साथ विद्रोह ने भी सन्धि करली, तो बिचारा किसान कहीं का नहीं रहता।”

(मुक्तिमार्ग - मानसरोवर)

मनोवैज्ञानिक सत्य या मानसिक विश्लेषण आधुनिक कहानी का प्राण है। चरित्रचित्रण की अधिकांश रोचकता इसी पर निर्भर करती है, इसको प्रेमचन्द जी ने न केवल अपनी कहानियों द्वारा ही स्पष्ट किया है, बरन् कहानीकला का विश्लेषण करते हुए स्वयं प्रकट किया है। मानसरोवर प्रथम भाग के प्राक्कथन में उन्होंने लिखा है—

“सबसे उत्तम कहानी वह हाती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो। साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दुखी होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेश में पिता के मनोवेगों का चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना, कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं न कहीं देवता अवश्य छिपा होता है, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका का काम है।” अपनी सफल आख्यायिकाओं में प्रेमचन्द ने मनोवैज्ञानिक सत्य के उद्घाटन के लिए बड़े स्वाभाविक

ढंग पर मानसिक विश्लेषण प्रस्तुत किए हैं। ये मानसिक विश्लेषण उनकी कहानियों के भीतर एक गहरी रोचकता भर देते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचन्द इन विश्लेषणों में अत्यधिक सफल हैं। इसका कारण—जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है—उनका गहरा और प्रत्यक्ष, जीवन का निजी अनुभव है। उनकी कहानियों में हमारे मानसिक भावों—क्रोध, घृणा, खीझ, ईर्ष्या, प्रेम, पश्चाताप, संतोष, ग्लानि, पीड़ा, उद्वेग आदि के बड़े सुन्दर विश्लेषण हैं। उदाहरण के लिए कुछ न चे दिए जाते हैं -

(१) “हरिधन ने विष, खून और आग भरे स्वर में कहा—
‘मैं तुम्हारे लड़कों का जूता खाने के लिए हूँ। मैं कुत्ता हूँ कि तुम लोग खाकर मेरे सामने सूखी रोटी का एक टुकड़ा फेंक दो।

बुद्धिया ने ऐंठकर कहा—तो क्या तुम लड़कों की बराबरी करोगे ?

हरिधन परास्त हो गया। बुद्धिया ने एक ही वाक्पहार में उसका काम तमाम कर दिया। उसकी तनो हुई भवें ढीली पड़ गईं, आँखों को आग बुझ गई, फड़कते हुए नथने शांत हो गये। किसी आहत मनुष्य की भाँति वह जमीन पर गिर पड़ा। ‘क्या तुम मेरे लड़कों का बराबरी करोगे ?’ यह वाक्य एक लम्बे भाले की तरह उसके हृदय में चुभता चला जाता था—न हृदय का अन्त था, न उस भाले का।” (परजमाई—मानसरोवर १)

इसी प्रकार—

“अमीना ने छाती पीट ली। यह कैसा बेसमझ लड़का है कि दोपहर हुआ, कुछ खाया न पिया। लाया क्या ? चिमटा। सारे मेले में और कोई चीज न मिली जो यह लोहे का चिमटा उठा लाया ?

हामिद ने अपराधी-भाव से कहा—तुम्हारी उँगलियाँ तवे से जल जाती थीं, इसलिए मैंने उसे ले लिया।

बुद्धिया का क्रोध तुरन्त स्नेह में बदल गया और स्नेह भी वह नहीं, जो प्रगल्भ होता है और अपनी सारा कसक शब्दों में बिखेर देता है। यह मूकस्नेह था, खूब ठोस रस और स्वाद से भरा हुआ। बच्चे में कितना त्याग और कितना सद्भाव और कितना विवेक है ! दूसरों को खिलौने लेते और मिठाई खाते देखकर इसका मन कितना ललचाया होगा, इतना जब्त इससे हुआ कैसे ! अमीना का मन गद्गद हो गया ।”

(ईदगाह, मानसरोवर १)

और भी,

“उसकी आँखों में आँसू न आये। उसका मुख क्रोध की ज्वाला से तमतमा उठा, आँखों में अंगारे बरसने लगे। दोनों मुट्ठियाँ बँध गईं। दाँत पीसकर बोली—पापियों, मेरे बच्चे के प्राण लेकर अब दूर क्यों खड़े हो ? मुझे भी क्यों नहीं उसी के साथ मार डालते ? मेरे छू लेने से ठाकुर जी को छूत लग गई ! पारस को छूकर लोहा सोना हो जाता है, पारस लोहा नहीं हो जाता। मेरे छूने से ठाकुरजी अगवित्र हो जायँगे ? मुझे बनाया तो छूत नहीं लगी। लो, अब कभी ठाकुर जी को छूने नहीं आऊँगी।”

(मन्दिर, मानसरोवर ५)

इसके अतिरिक्त समुचित वायुमंडल उपस्थित करने और भाव और घटना को यथार्थ प्रभाव प्रदान करने के लिए, प्रेमचन्द के वर्णन एक विचित्र आकर्षण को पैदा करनेवाले होते हैं। ये वर्णन कहीं तो नितांत यथातथ्य हैं और कहीं बड़े भावुकतापूर्ण। इन्हीं का आधार पाकर उनकी कहानों में चटकीलापन आ जाता है।

उदाहरणार्थ—“रात भीग चुकी थी। अनन्त आकाश में उज्ज्वल तारे बालकों की भाँति कीड़ा कर रहे थे। कोई नाचता था, कोई उछलता था, कोई हँसता था, कोई आँखें मीचकर फिर खोल देता था।”

तथा--

“वहाँ की वायु में, वहाँ के प्रकाश में, मानो विराट्-रूपिणी माता व्याप्त हो रही थी, वहाँ की अंगुल अंगुल भूमि माता के पदचिह्नों से पवित्र थी, माता के स्नेह से दूबे हुए शब्द अभी तक मानों आकाश में गूँज रहे थे।” (घर जमाई, मनोसगेवर १)

इसी प्रकार सौंदर्य का प्रभावपूर्ण वर्णन नीचे लिखी पंक्तियों में देखिये—

“प्रातःकाल पान का बड़ा लेकर चलती, तब उसका गेहुँआ रंग प्रभात की सुनहरी किरणों से कुन्दन हो जाता, मानों उषा आनी सारी सुगन्ध, सारा विकास और सारा उन्माद लिए मुरझाती चली जाती हो।” (अलग्गोभा, मानसरोवर १)

इस प्रकार प्रेमचन्द ने अपने प्रभावशाली वर्णन, सूक्ष्म मानसिक विश्लेषण और राञ्चक यथार्थ एवं कुतूहलवर्द्धक वार्तालाप के द्वारा जीवन की विविध समस्याओं पर प्रकाश डाला है। उन्होंने राजनैतिक कहानियों में सच्चे राष्ट्रीय हृदय का परिचय दिया है और सत्याग्रह, स्वदेशी आन्दोलन आदि के सुन्दर एवं भावपूर्ण चित्रण किए हैं। इसके साथ ही साथ उन्होंने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर भी कहानियाँ लिखी हैं और उनमें भी समुचित सफलता पाई है। इनमें विशेष रूप से चित्रण, प्राचीन मर्यादा, आन, प्रतिज्ञा, वीरता, साहस आदि का है, जिनको लेकर उन्होंने अनेक कहानियाँ लिखी हैं। पर उनकी लेखनी सबसे अधिक वेग के साथ चली है समाजिक समस्याओं को लेकर। इन समस्याओं का प्रेमचन्द जी ने जिस यथार्थता और गहराई के साथ समझा है और चित्रित किया है, वह सराहनीय है।

चौथी और प्रमुख विशेषता उनकी कहानियों में व्यंग्यात्मकता है। व्यंग्य कहानी में रस भर देता है और उद्देश्य को बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंग से बैठा देता है। व्यंग्य-द्वारा जो उद्देश्य प्रकट होता है वह अविस्मरणीय होता है। प्रेमचन्द की कहानियों में व्यंग्य कहीं वार्तालाप या वर्णन के एकाध वाक्य-द्वारा, कहीं-कहीं किसी एकाध

घटना के द्वारा और कहीं समस्त कहानी के द्वारा प्रकट हुआ है। यह तीनों ही प्रकार का व्यंग्य बड़ा ही रोचक है।

उनकी अनेक कहानियाँ हैं जिनमें सामाजिक कुतर्कियाँ व्यक्तिगत बुराइयों आदि के दुष्परिणाम संबन्धी व्यंग्य निकलते हैं और उनको पढ़कर जो प्रभाव दिल पर पड़ता है वह अमिट है। ऐसी कहानियों में कुछ उल्लेखनीय हैं—अलग्गोभा, बड़े भाई साहब, ठाकुर का कुआँ, मनोवृत्ति, सत्याग्रह, घामपातः हिंसा परमोधर्मः, आदि। इनसे हमें समाज में प्रचलित अथवा सकीर्ण विचारों से उद्भूत दुष्परिणामों पर व्यंग्य मिलते हैं और उन्हें ढोढ़ने के प्रेरणा भी। यह प्रेमचन्द के साहित्यिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। साहित्य का उद्देश्य मानव जीवन का कल्याण है। जो युग का सत्य-सिद्धान्त है उसका प्रचार करना कलाकार का मुख्य कर्तव्य है। प्रेमचन्द जी ने अपने साहित्य से समाज की जो सेवा की है, वह हिन्दी में तुलसीदास को छुड़कर दूसरे किसी भी लेखक ने नहीं की है। उन्होंने हमें अपनी कहानियों के द्वारा आत्मविश्लेषण और सामाजिक आलोचना की शक्ति प्रदान की है। उनकी कहानियों में हमारे उस रूपका विश्लेषण है जिसे हम समझ ही नहीं पाते। मनुष्य की सामर्थ्य और दुर्बलताओं को समझाना, प्रेमचन्द का काम है, जिन्हें समझ कर ही हम सहनशील और सामाजिक जीवन में सफल हो सकते हैं। प्रेमचन्द की व्यंग्य-पूर्ण कहानियाँ सकार्य को विशेष रूप से सिद्ध करती हैं।

घटना के व्यंग्य भी इसी प्रकार रोचक हैं। इनमें विशेष बात यह है कि प्रेमचन्द ने स्वाभाविकता नहीं छोड़ी है। बड़े घर की बेटी, गृहदाह, दो भाई, मुक्ति-मार्ग, नशा, घरजमाई आदि कहानियाँ इस प्रकार के व्यंग्य से युक्त हैं। इसमें लेखक को कभी-कभी निष्पक्ष एवं निष्करुण न्यायाधीश की भाँति ऐसी घटना का आयोजन करना ही पड़ता है, जिससे किसी व्यक्ति पर चाहे जैसी विरक्ति पड़े, पर उद्देश्य की सिद्धि होनी चाहिए।

वाक्यों का व्यंग्य प्रेमचन्द की कहानियों में भरा पड़ा है। यह यद्यपि प्रत्येक शैली में देखने को मिलता है, पर विशेष रूप में आत्म-कथात्मक शैली में। इन वाक्यों में एक प्रकार की विलक्षण गुदगुदी भरी रहती है जो उनकी कहानियों में काव्य का सा आनन्द भर देते हैं। इसको स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

(१) मेरे भाई साहब मुझमें पाँच साल बड़े थे; लेकिन वेवल तीन दरजे आगे। उन्होंने भी उसी उम्र में पढ़ना शुरू किया था, जब मैंने शुरू किया। लेकिन तालीम जैसे मुहत्त्व के मामले में वह जल्द-बाजी से काम लेना पसन्द न करते थे। इस भवन की बुनियाद खूब मजबूत डालनी चाहते थे, जिस पर आलीशान महल बन सके। एक साल का काम दो साल में करते थे। कभी कभी तीन साल भी लग जाते थे। बुनियाद ही पुख्ता न हो तो मकान पायेदार कैसे बने !”—

(बड़े भाई साहब)

इस प्रकार का प्रारंभ ही कहानी को रोचक बना देता है। इसी प्रकार 'रसिक सम्पादक' में विधुर सम्पादक जी के जीवन पर व्यंग्य कसने हुए उन्होंने लिखा है :—

(२) सम्पादक जी के जीवन में जो कमी आ गई थी, उसी को कुछ पूर्ति करना महिलाओं ने अपना धर्म-सा मान लिया था। उनके भरे हुए भंडार में से अगर एक लुधित प्राणी को थोड़ी-सी मिठास दी जा सके, तो उससे भंडार की शोभा ही है। कोई देवी पारसल से अचार भेज देती, कोई लड्डू; एक ने पूजा का ऊनी आसन अपने हाथों बनाकर भेज दिया।'

कहानीकला के समस्त अंगों की सफलता भाषा-प्रयोग पर निर्भर करती है। प्रेमचन्द की भाषा में जो सजीवता, प्रवाह, प्राण प्रभाव, आभा, और लावण्य है, वह विलक्षण है। अपने शब्दों और मुहावरों के द्वारा वे नीरस शब्दों को रस से ओतप्रोत कर देते हैं। इनकी भाषा में मुहावरे तो सर्वत्र विद्यमान हैं, साथ ही साथ नवीन,

भावपूर्ण, अर्थभरी कहाकों का भी प्रयोग वे बराबर करते चलते हैं ; भाङ लीपकर, हाथ कला करना, पौ बारह, पीठ में धूल लग जाना, पापङ बेजना, आटे पाल का भाव मालूम होना, मर मरकर जोड़ना, पीठ में धूल लगाना आदि कुछ उदाहरण हैं ।

इसके साथ ही साधारणता में जो काव्य-विशेष आये लालित्य है, वह शिथिल, मृदुल ही है । जैसे—

“हृदय में प्रेम था, पर नेत्रों में आभयमान । कुसुम वही था, परन्तु वह छटा न थी ।”

(दो भा. मानसरोवर ६)

“कोड़ियों पर अशर्कियाँ लुट रही थीं ।

एक समय था जब कि ईर्ष्या भी उसे देखने हाथ मलती थी ।
और एक समय यह है जब कि प्रिया भी उस पर कटाक्ष करती है ।
दीवारों किसे विधवा स्त्री के हृदय की भोंति विखी हो रही थी ।”

इसी प्रकार की सुन्दर भाषा प्रेमचन्द की कहानियों को सरस और भावपूर्ण बनाती है । अतः यह उनकी कला कौंचवी विशेषता है । इस सम्बन्ध में उनकी सकलता सर्वमान्य है ।

प्रेमचन्द की कहानियों की अन्तिम विशेषता इनका भावुकतापूर्ण आदर्शवाद है । यह अधिकांश तो व्यंग्य रूप में ही कृत हुआ है । परन्तु कभी स्पष्ट रूप में भी आया है । प्रेमचन्द के हृदय में सदा इसका आलस जलकता रहा कि उनका समाज पारस्परिक प्रेम, सौहार्द और निष्काट व्यवहार का जीवन व्यतीत करे । और अपने समय में इसका अभाव देखकर उनका हृदय कभी कभी रो पड़ता था । इस सम्बन्ध में उनकी सी सवेदनशीलता सामान्यतः किसी लेखक में मिलना असंभव है । इसी आवेश में आकर कभी कभी वे व्यक्ति को, कभी समाज को, उसकी अनुदारता पर कोसते और इस बात का संकेत करते कि ऊँच नीच का भाव मनुष्य समाज के बीच से हट जाना चाहिए । सबसे सुन्दर मानवता का भाव प्रेम

गैर साम्यभाव है। इसमें वर्ण, जाति, धर्म, देश कोई भी बाधा नहीं डाल सकते। पारस्परिक फुट से वे कभी लीभ चउते। इसी दशा में आवुक्तापूर्व शब्दों द्वारा उन्होंने एक कहानी में अग्ना आदर्शवाद व्यक्त किया है—

“केदार के दरवाजे पर दो बैल खड़े हैं। इनमें कितनी संवशक्त है, कितनी मित्रता और कितना प्रेम है। दोनों एक ही छुँट्टे में चलते हैं, बस इनमें एक ही नाता है। अभी कुछ दिन हुए, जब इनमें से एक चम्पा के मैके में गाना गाया था, तो दूसरे ने तीन दिन तक नौद में मुँह नहीं डाला। परन्तु शोक, एक गोद के खेले भाई, एक झुत्ती से दूध पीनेवाले आज इतने बेगाने हो रहे हैं कि एक घर में रहना नहीं चाहते।” (दो भाई, मनसरोवर ७)

इसी प्रकार के साम्य, ऐक्य और प्रेम के आदर्श से उनकी कहानियाँ भरी हैं, पर यह भाव उपदेश रूत में नहीं, कलात्मक रूप में प्रकट हुआ है जो न केवल पढ़नेवाले को मनोरंजन, सुधारकों को बल, लोखंड को प्रेरणा दे सकता है, वरन् समस्त समाज को एक संघटित शक्ति प्रदान कर सकता है।

इस प्रकार प्रेमचन्द की कहानी कला, स्वस्थ एवं जीवनोपयोगी सृष्टि की स्वाभाविक कला है, उसका जीवन में शाश्वत महत्व है और वह अनुकरणीय है। साहित्य में हमारे यह प्रगतिशीलता के आंदोलन को इन्हीं ने बल दिया है। उनकी कहानियाँ आधुनिक समाज और संस्कृति के यथार्थ मनोरम एवं अमर चित्र हैं।

—डा० भगीरथ मिश्र

